चौखम्बा-संस्कृत-ग्रन्थमाला
(ग्रन्थ-संख्या २७)
९५

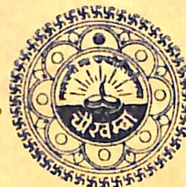
॥ श्रीः ॥

षड्दर्शनसमुच्चयः

परमार्हत-श्रीमणिभद्रकृत'लघुवृत्ति'सहितः
सानुवाद-विविधपरिशिष्टाद्यलङ्कृतश्च

सम्पादकः

डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्रः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस .वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा-संस्कृत-ग्रन्थमाला

(ग्रन्थ-संख्या २७)

९५

आर्हतप्रवर-श्रीहरिभद्रसूरिविरचितः

षड्दर्शनसमुच्चयः

परमार्हत-श्रीमणिभद्रकृत'लघुवृत्ति'सहित—

सटिप्पण 'दर्शनकौमुदी' हिन्दीभाषानुवादविभूषितः

मलधारि-श्रीराजशेखरसूरिविरचित'षड्दर्शनसमुच्चया'लङ्कृतश्च

सम्पादकः

डॉ० काशेश्वरनाथ मिश्रः

एम. ए., पी-एच. डी., साहित्याचार्यः

(प्राध्यापक : संस्कृतविभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी)

प्राक्सम्पादकः—

गोस्वामिश्रीदामोदरलालशास्त्री

श्रीमध्वसम्प्रदायाचार्यदार्शनिकसार्वभौमसाहित्यदर्शनाद्याचार्यः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

१९७९

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : चतुर्थ, वि० सं० २०३५
मूल्य : १५-००

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १३८, वाराणसी-२२१००१
(भारत)

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES

A

Collection of Rare & Extraordinary Sanskrit Works.

NO. 95

ṢAḌDARŚANASAMUCHCHAYA

OF

SRI HARIBHADRA SURI

With the Laghuvritti Commentary by Manibhadra Suri

Critically Edited & Annotated with Hindi Translation

By

Dr. KAMESHWAR NATH MISHRA

M. A., Ph-D., Sahityacharya

Lecturer, Sanskrit Department, Kashi Vidyapith, Varanasi

Previously Edited by

GOSWAMI DAMODARA LALA SHASTRI



CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE, VARANASI.

1979

© Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 8, Varanasi-221001 (India)
Phone : 63145

Fourth Edition
1979
Price Rs. 15-00

Also can be had from
Chaukhamba Amarabharati Prakashan
Oriental Publishers & Book-Sellers
Post Box No. 138
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi-221001
(INDIA)



उत्तराम्नाय-बदरिकाश्रमस्थ ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरुशङ्कराचार्य

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती महाराज

के चरणकमलों में साञ्जलि समर्पित

प्राक्कथन

इस प्रकरण-ग्रन्थ पर लेखनी उठाने का कोई विचार नहीं था, संयोग ही है कि कुछ हो गया। वस्तुतः मैं राजशेखरकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की खोज में एक दिन चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस पहुँचा, वहीं इस ग्रन्थ की चर्चा चल पड़ी जिसका नवीन संस्करण निकालने का उपक्रम हो रहा था। स्व० 'आचार्य श्रीदामोदर लाल गोस्वामी ने इसका मूल-सम्पादन किया था। इसके तीन-तीन संस्करण निकल चुके थे, किन्तु किसी कारण उसमें कई दोष ज्यों के त्यों रह गये थे। टीका सहित ३३ वीं से ३६ वीं कारिका तक क्रम का भङ्ग था। उनके संस्करण में ३३ वीं कारिका के बाद ३६ वीं कारिका छपी थी, ३४ वीं ३५ वीं के रूप में थी और ३६ वीं ३५ वीं के रूप में। उस रूप में पढ़ने पर कारिकाओं का अर्थ असंगत लगता था। उसे यहां शुद्ध कर दिया गया है। यद्यपि आदरणीय गोस्वामी जी ने कई पादटिप्पणियां दी थीं, किन्तु आधुनिक दृष्टि से सामान्य एवं विशिष्ट उभयविध जिज्ञासुओं के लिये नयी टिप्पणियों का भी समावेश कर दिया गया है। आ० गोस्वामी जी की टिप्पणियों को भी यथावत् रहने दिया गया है और उनके समक्ष (गो०) अङ्कित कर दिया गया है। यथासम्भव उद्धरणों का आकरनिर्देश और समत्वप्रदर्शन भी किया गया है। पाठान्तर भी दिये गये हैं। मूल की अपेक्षा टिप्पणी में दिये गये पाठान्तर अनेक स्थानों पर अधिक समीचीन हैं, किन्तु मणिभद्र की 'लघुवृत्ति' में स्वीकृत पाठ ही कारिका में संगति की दृष्टि से निहित हैं। अनेक स्थानों पर मणिभद्र की टीका अधिक समुचित न लगी। वहां गुणरत्न आदि की व्याख्याओं का अंश मैंने टिप्पणी में दे दिया है। विश्वास है इससे हरिभद्रसूरि की भावनाओं की रक्षा होगी।

डा० सुरेन्द्रनाथदासगुप्त सदृश विद्वानों द्वारा बहुशः उल्लिखित होने से राजशेखरकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' भी परिशिष्ट में दे दिया गया है। इसकी एक प्रति श्रीबेचरदास की सम्पादित और दूसरी मोटे अक्षरों में छपी जीर्ण दशा में प्रकाशक से मिली थी। उनके अनुसार ही यहाँ पाठ दिया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये चौखम्बा संस्कृत सीरीज के गुप्त-बन्धुओं का तथा अनुवाद और टिप्पणी को 'दर्शनकौमुदीव्याख्या' नाम देने और मुद्रण सम्बन्धी पर्यवेक्षण के लिये पं० श्रीरामचन्द्रझा का हृदय से आभारी हूँ।

विनयावनत—

—कामेश्वरनाथ मिश्र

मकरसंक्रान्ति
वि० सं० २०३५

विषयानुक्रमणी

प्रस्तावना

मूलग्रन्थ

परिशिष्ट १–५

प्रस्तावना

भारत-भूमि विचार-भूमि रही है। यहाँ के प्रारम्भिक मानव ने भी अपनी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति-मात्र से सन्तुष्ट न रह कर इसके अतिरिक्त भी कुछ सोचने का प्रयास किया। इन चिन्तनों की कुछ उपलब्धियों का दर्शन विश्व की प्राचीनतम सांस्कृतिक निधि वैदिक-संहिताओं के 'नासदीयसूक्त' तथा संहिताओं के साक्षात् अंशभूत कुछ उपनिषदों में होता है। भारतीय मानव की आध्यात्मिक चिन्तनों की ओर विशेष उन्मुखता का कारण मैक्समूलर ने अपनी ललित और कवित्वपूर्ण भाषा में यहां की उर्वर भूमि से स्वल्पप्रयास से ही आवश्यकताओं की पूर्ति बतलाया है,[1] किन्तु प्रतीत यह होता है कि उसका मुख्य कारण यहाँ के मनुष्यों की सन्तोषी वृत्ति ही रही है जिसने कणाद-कपिल सदृश महात्माओं को स्वल्पतम शरीरधारक वस्तुओं पर जीवन-यापन कर अस्तित्व के रहस्यों के अन्वेषण-हेतु प्रेरित किया।

वैदिक तथा उत्तरवैदिक काल में 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' का कारण चिन्तकों की आत्मप्रतिष्ठा की भावना न होकर जीवन एवं जगत् के रहस्यों को जानने की असीम उत्कण्ठा थी। प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा आदि ऋषियों का समित्पाणि होकर ज्ञानी की खोज में निकलना, 'कठ' में नचिकेता का अध्यात्मविद्या के लिये सर्वस्व-त्याग कर देना, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक में किसी भी सामाजिक स्तर के ज्ञानी पुरुष के पास किसी भी जिज्ञासु का चला जाना आदि उक्त तथ्य का पोषक है। उपनिषत्काल में ही किसी समय लिखे गये ब्रह्मजाल-सुत्त में आत्मा, जगत् एवं शाश्वत-तत्त्वों से सम्बद्ध अनेक विचार निरूपित हैं। बहुसंख्यक जिज्ञासुओं के प्रयासों से भारत में अगणित चिन्तन-धारायें प्रवाहित हुयीं। जैनियों के 'अर्थसंग्रह' में भी तीन सौ तिरसठ विचारधारायें बतलायी गयी हैं।[२]

इस प्रकार ईसवीय सन् के पूर्व एक अद्भुत 'जिज्ञासाकाल' का दर्शन होता है, जब प्रत्येक मनुष्य जीवन का सत्य जानने के लिये विकल दृष्टिगोचर होता है। उसी समय परम्परा से चली आ रही श्रुतियों को लिपिबद्ध किया जाने लगा। बुद्ध के उपदेश को

1—The Six Systems of Indian Philosophy : Preface p. vii, Longmans, Green & Co. London 1903.

२—असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण हुंति चुलसीई।
अन्नणियं सत्तट्ठी वेणइआणं च बत्तीसं॥
—द्रष्टव्य 'षड्दर्शनसमुच्चय' की दूसरी कारिका की 'वृत्ति' तथा गुणरत्न की टीका 'तर्करहस्यदीपिका' भी।

भी लिपिबद्ध करने के लिये 'समितियाँ' और 'संगीतियाँ' होने लगीं। कितनी ही विचार-धाराओं को सूत्रबद्ध किया गया, और कितनी परम्परा में चलती रहीं और बाद में लुप्त हो गयीं। लुप्त हो जाने पर भी उनके महत्त्वपूर्ण विचारों को सूत्रकारों ने मतान्तर के रूप में अपने-अपने ग्रन्थों में उल्लिखित किया है। कितने मतवादी परस्पर विचार-धाराओं में अधिक साम्य होने के कारण एक सम्प्रदाय में केन्द्रित होने लगे। उस समय के कुछ असाधारण प्रतिभाशाली चिन्तकों ने समन्वय का आह्वान भी किया और परम्परा के स्वल्प अन्तरों को छोड़कर एक साथ सामूहिक चिन्तन की ओर उन्मुख किया। ये धारायें अन्तर्भेदों के होने पर भी छह, नौ, बारह आदि दार्शनिक सम्प्रदायों के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं।

दार्शनिक सम्प्रदायों का ऐतिहासिक-क्रम—

'आज यह कह पाना बहुत कठिन है कि कौन सा दर्शन पहले का है और कौन सा बाद का' प्रो० मैक्समूलर[1] के इस कथन में पर्याप्त सत्य है। दर्शनों के पौर्वापर्य निर्धारण में अनेक कठिनाइयाँ हैं। विभिन्न प्रकार के दार्शनिक चिन्तन एक साथ भी होते रहे हैं, अतः उनका वास्तविक प्रारम्भ उसी समय से मानना चाहिए, किन्तु आज तक उपलब्ध साहित्य से एक साथ जन्मी विचारधाराओं की गणना कर पाना ही असम्भव है। दर्शनों के सूत्रकार भी वस्तुतः सम्प्रदाय-विशेष के आविर्भावक न होकर उसके क्रमबद्ध एवं तर्कसंगत निरूपकमात्र हैं, अतः उनके ही समय को दर्शनों का प्रादुर्भावकाल नहीं कहा जा सकता। सांख्य–सदृश अत्यन्त प्राचीन दर्शनों के 'सूत्र' तो बहुत ही बाद के रचित प्रतीत होते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को प्राचीनतम ही सिद्ध करने पर आरूढ़ हो गया है और अपने को अधिष्ठाता देवता की भाँति ही अनादि घोषित कर रहा है। उपलब्ध इतिहास के आधार पर कुछ सम्प्रदायों के आदि-आचार्यों का समय निश्चित होने पर भी उनको और भी प्राचीन मानने का दुराग्रह बढ़ता ही जा रहा है। इतना निश्चित हो चुका है कि बौद्ध और जैन सदृश प्राचीन दर्शनों के समर्थ प्रतिष्ठापक गौतम तथा वर्धमान महावीर के जन्म के पूर्व ही कुछ उपनिषदों को विद्यमान रूप मिल चुका था, अतः ऐतिहासिक क्रम में औपनिषद दर्शन इनसे भी प्राचीन है, किन्तु उपनिषदों पर आश्रित ब्रह्मसूत्र और ब्रह्मसूत्रों पर भी आधारित अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, आदि 'वाद' तो निःसन्देह बहुत बाद के हैं, जब इनके स्थापक आचार्य शंकर, रामानुज आदि उत्पन्न हुये। यज्ञेश्वर चिमणभट्ट ने कुछ दर्शनों का पौर्वापर्य इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

> ''अत्र केचिदर्वाञ्चः शोधकास्त्वित्थं सम्प्रचक्षते–
> आदौ लोकायतमतप्रकाशनमहापटुः ।
> वेदबद्धं महामार्गं खण्डितुं यत्नमातनोत् ॥

1–The Six Systems of Indian Philosophy pp. 88–92.

ततो बौद्धा मुक्तकच्छास्ततो जैना दिगम्बराः ।
श्वेताम्बराश्च त इति नास्तिका बहुरूपिणः ।।
पुरा काले बुद्धनाम्ना पुरुषेण प्रकाशितम् ।
बौद्धं मतमथैनं हि द्विजाः पाखण्डिनं जगुः ।।
निर्वासयामासुरमुं वर्णाः सर्वे स्वदेशतः ।
ततः स सिंहलद्वीपं तिबेटं चीनभूमिकाम् ।।
ब्रह्मदेशं च गत्वाऽथ बौद्धधर्मं समातनोत् ।
ततः कालेनात्र खण्डे भारते विक्रमात् पुरा ।।
खमुन्यम्भोधिमिते वर्षे वीराह्वयो नरः ।
प्राचारयज्जैनधर्मं बौद्धधर्मसमप्रभम् ।।
एतस्मिन्नेव समये नाना पाखण्डरूपिणः ।
कापालिकाश्च नाथाश्च चार्वाकाद्याश्च जज्ञिरे ।।[1]

किन्तु चिम्मणभट्ट का यह मत पूर्णतः संगत नहीं लगता और न वैज्ञानिक ही । भारतीय-दर्शन के अर्वाचीन इतिहासकारों ने चार्वाक्, जैन, बौद्ध आदि कुछ दर्शनों का विवेचन पहले अवश्य प्रारम्भ किया है, किन्तु इनके पौर्वापर्य का आधार इनकी क्रमिक प्राचीनता ही नहीं है, वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के निरूपण का पौर्वापर्य अवश्य कुछ ग्रन्थों में कालक्रम के अनुसार है । संस्कृतभाषा में लिखित अनेक दर्शन-संग्रहों में भी सम्प्रदायों का उल्लेख ग्रन्थकारों ने यादृच्छिक ही किया है ।

आस्तिक और नास्तिक दर्शन—दर्शनों की आस्तिकता तथा नास्तिकता का भी विवाद बड़ा रोचक है । आश्चर्य है कि बहुत पहले से नास्तिक घोषित किये गये जैन दर्शन के आचार्य भी अपने को आस्तिक सिद्ध करने पर तुले हुये थे । फलस्वरूप आस्तिकता एवं नास्तिकता की परिभाषायें भी समय-समय पर बदलती रहीं । सामान्यतः ईश्वर तथा जगत् आदि को ईश्वरकृत न मानने वाले नास्तिक समझे जाते हैं, किन्तु विशेषरूप से वेदों का प्रामाण्य न स्वीकार करने वाले ही नास्तिक कहे गये।[2] इसी

१—आर्यविद्यासुधाकरः सम्पादक—एस० डी० कुडाल, पंजाब सं० बुक डिपो, लाहौर, १९२२ ई०

२—अत्रोच्यन्ते मतानीह दर्शनानां समासतः ।
नास्तिकास्तिकगीतत्वात् द्विधा तानि प्रचक्षते ।।
नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा ।
नास्तिकास्ते तथाऽस्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः ।।
अवैदिकप्रमाणानां सिद्धान्तानां प्रदर्शकाः ।
चार्वाकाद्याः षड्विधास्ते ख्याता लोकेषु नास्तिकाः ।।
वेदप्रमाणकानीह प्रोचुर्ये दर्शनानि षट् ।
न्यायवैशेषिकादीनि स्मृतास्ते आस्तिकाभिधाः ।।

आर्यविद्यासुधाकर, लाहौर. १९२२ ई०

मान्यता के आधार पर चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन नास्तिक कहे जाते रहे। राजशेखर सूरि ने बौद्ध, जैन, सांख्य, मीमांसा, न्याय (योग), वैशेषिक (पाशुपत), इन छह को आस्तिक-दर्शन कहा है और चार्वाकसदृश नास्तिकों को दर्शन ही नहीं माना है।[१] हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' के दोनों प्रख्यात जैन टीकाकार मणिभद्र[२] तथा गुणरत्न[३] जीव, परलोक, पुण्य-पाप आदि को मानने वालों को आस्तिक स्वीकार करते हैं और इनको मानने के कारण ही बौद्ध, जैन, सांख्य आदि को आस्तिक तथा न मानने से चार्वाक को नास्तिक कहते हैं। हरिभद्र स्वयं ही कारिका ७७ एवं ७८ में जैन-बौद्ध सहित सांख्य आदि को आस्तिक दर्शन कहते हैं। यह राजशेखर सूरि की अपेक्षा उदार अधिक हैं, क्योंकि नैयायिक और वैशेषिक दोनो को एक मानने वालों के मत का समादर कर दर्शनों की छह संख्या पूरी करने के लिये चार्वाक को भी दर्शन स्वीकार करते हैं और उसका भी सिद्धान्त निरूपित करते हैं।

जैनो का स्वयं को आस्तिक सिद्ध करने का प्रयास कुछ उसी प्रकार का प्रतीत होता है जैसा आद्यशङ्कराचार्य के समय से बारहवीं शताब्दी के लगभग तक शैव, पाशुपत आदि दार्शनिकों का अपने को वैदिक सिद्ध करने का था। संभव है उस समय नास्तिकता समाज में अभीष्ट न रही हो और उसे स्वीकार करने को लोग उन्मुख न रहे हों, अतः अपने को ग्राह्य बनाने के लिये आचार्यों ने आस्तिकता की प्रच्छन्नता ओढ़ ली हो।

षड्दर्शन कौन-कौन से हैं ?—आस्तिकता तथा नास्तिकता की ही भांति यह भी विवाद कम रोचक नहीं रहा कि षड्दर्शनो में किन-किन की गणना हो ? समाज में समान्यतः वैशेषिक, न्याय, वेदान्त, सांख्य, योग और मीमांसा ये ही छह दर्शन षड्दर्शन के रूप में मान्य हैं। इनको ही आस्तिक दर्शन भी कहा जाता है।

कणादस्याक्षपादस्य व्यासस्य कपिलस्य च।
पतञ्जलेर्जैमिनेश्च दर्शनानि भवन्ति षट्॥

यह छहों दर्शन वेदों का स्पष्ट प्रामाण्य स्वीकार करने वालों के मत हैं। हरिभद्र सदृश ग्रन्थकार और मणिभद्र तथा गुणरत्नसदृश टीकाकार अन्य मत-मतान्तरों का

१—जैनं सांख्यं जैमिनीयं यौगं वैशेषिकं तथा।
सौगतं दर्शनान्येवं नास्तिकं तु न दर्शनम्॥ षड्दर्शनसमुच्चयः।४।

२—द्रष्टव्य-कारिका ७७-७८ की टीका।

३—एवमित्थमास्तिकवादानां जीवपरलोकपुण्यपापाद्यस्तित्ववादिनां बौद्धनैयायिक-सांख्यजैन-वैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपेण कीर्तनं कृतम्॥ कारिका ७७ पर गुणरत्न की टीका।

यथासम्भव अन्तर्भाव[1] करके बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय को ही षड्दर्शन मानते हैं। न्याय और वैशेषिक का ऐक्य मानकर षष्ठ संख्या की पूर्ति के लिये हरिभद्र चार्वाक को छठा दर्शन मान लेते हैं, किन्तु राजशेखर सूरि दृढ हैं—'नास्तिकं तु न दर्शनम्'[2]।

छह दर्शनों में जैन-दर्शन का भी समावेश एक आग्रह ही प्रतीत होता है। मणिभद्र के 'अत्र जगति प्रसिद्धानि षडेव दर्शनानि, एव शब्दोऽवधारणे, तथाऽपि परमार्थतस्तेषां एष्वेवान्तर्भावात् षडेवेति सावधारणं पदम्[3], शब्दों से यह प्रकट होता है कि छह के अतिरिक्त किसी भी सातवें दर्शन को लोक स्वीकार करने को तैयार न था। अतः हरिभद्रसूरि ने अपने साथ बौद्ध का भी समावेश कर लिया और उस समय के दो प्रख्यात दर्शनों—योग तथा अद्वैत-वेदान्त का उल्लेख तक न किया।

पातञ्जलयोग तथा शाङ्कर-अद्वैत का निर्देश नहीं ?

सब से अधिक आश्चर्यजनक है हरिभद्र के द्वारा पातञ्जलयोग तथा वेदान्तदर्शनों का नाम तक न लिया जाना। योगसूत्रकार पतञ्जलि का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी के बाद नहीं सिद्ध होता और लगभग यही स्थिति उनके भाष्यकार व्यास की भी है। हरिभद्र सांख्य का उल्लेख तो करते हैं, किन्तु योग का नहीं, जब कि सूत्रकार और भाष्यकार दोनो उनसे पहले हो चुके हैं। हरिभद्र ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' की ३४ वीं कारिका में सेश्वर एवं निरीश्वर सांख्य का उल्लेख किया है। शङ्कराचार्य ने अपने 'सर्वसिद्धान्त-संग्रह' में सेश्वर सांख्य का अर्थ पातञ्जलयोग लिया है और उसका निरूपण वहाँ उनहत्तर कारिकाओं में किया है। त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित एवं म० म० टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित 'सर्वमत-संग्रह' में भी सेश्वर-निरीश्वर सांख्य का निरूपण हुआ है और वहाँ भी सेश्वर-सांख्य का अभिप्राय पातञ्जलयोग ही है, सर्वदर्शन-कौमुदीकार माधवसरस्वती ने भी सेश्वरसांख्य को योगसांख्य कहा है। इस प्रकार वैदिक परम्परानुगत आचार्य सेश्वरसांख्य का अर्थ योग-दर्शन ही मानते रहे हैं, किन्तु इस विषय पर विचार करने वाले प्रायः सभी जैन आचार्यों ने सेश्वर और निरीश्वर का दूसरा ही अर्थ लिया है। इन लोगों ने 'ईश्वर' शब्द को शिव या महेश्वर अर्थ में रूढ माना है। मणिभद्र के शब्दों पर ध्यान देने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है[4]। गुणरत्नसूरि इसी कारिका की व्याख्या में मणिभद्र के सदृश हो विचार प्रकट करते हैं—

१—षड्दर्शनसमुच्चय की द्वितीय कारिका तथा उसी पर टीकायें।

२—षड्दर्शनसमुच्चय ॥ ४ ॥

३—हरिभद्र—षड्दर्शनसमुच्चय की २ य कारिका की वृत्ति।

४—केचित्सांख्या निरीश्वरा ईश्वरं देवतया न मन्यन्ते, केवलाध्यात्मवादिनः, केचित् पुनरीश्वरदेवता महेश्वरं स्वशासनाधिष्ठातारमाहुः। कारिका ३४ की 'वृत्ति'।

'केचित्सांख्या निर्गत ईश्वरो येभ्यस्ते निरीश्वरा: केवलाध्यात्मैकमानिन: । केचिदीश्वर-देवता:, ईश्वरो देवता येषां ते तथा,[1] किन्तु इस कारिका के पूर्व सांख्य-दर्शन के आचार्यो की वेशभूषा आदि की भूमिका देते हुये उन्होने निरीश्वर का अर्थ विष्णु का आराधक तथा सेश्वर का शिवाराधक स्वीकार किया है । उनके ही शब्द द्रष्टव्य है[2] "सांख्या: केचिदीश्वरदेवा: अपरे च निरीश्वरा: । ये च निरीश्वरास्तेषां नारायणो–देव: तेषामाचार्या: विष्णुप्रतिष्ठाकारकाश्चैतन्यप्रभृतिशब्दैरभिधीयन्ते "

गुणरत्न की उक्ति का आधार राजशेखरसूरि की ये कारिकायें रही हैं—

सांख्या निरीश्वरा: केचित् केचिदीश्वरदेवता: ।
ये ते निरीश्वरास्तेऽमी नारायणपरायणा: ।।
विष्णो: प्रतिष्ठां कुर्वन्ति सांख्यशासनसूरय: ।
चैतन्यप्रमुखै: शब्दैस्तेषामाचार्य उच्यते ।।

षड्दर्शनसमुच्चय का० ४२, ४३ ।।

'योगदर्शन' की उपेक्षा तथा विक्षेप में राजशेखरसूरि इन आचार्यों से भी बढ़कर हैं । उन्होंने संभवत: भारतीय दर्शनो के इतिहास में प्रथम तथा अन्तिम बार न्यायदर्शन को 'यौगदर्शन' कहा है ।

'अथ यौगमतं ब्रूम: शैवमित्यपराभिधम् ।।' ष० द० स० ८४ वीं कारिका ।

न्याय-दर्शन के आचार्य योगी भले रहे हों, किन्तु उनका दर्शन यौगनाम से कभी ख्यात नहीं रहा । 'शैव' कहने पर बहुत आपत्ति नहीं की जा सकती हैं, तथापि वह भी पूर्णत: निर्विवाद नहीं है । राजशेखरसूरि ने अपने षड्दर्शनसमुचय की १५० से १५७ तक की कारिकाओं में अष्टाङ्गयोग की चर्चा की है और १५५ वीं कारिका में उसको मोक्ष का उपाय भी बतलाया है[3], किन्तु उसका स्वतन्त्रदर्शन के रूप में निरूपण नहीं किया ।

अद्वैत-वेदान्त की भी दशा इन जैन आचार्यों के हाथ में दयनीय ही है । शङ्कराचार्य और हरिभद्र दोनों ही आठवीं शताब्दी ईसवी के हैं ऐसा इतिहासकारों को मान्य हो चुका है, यद्यपि परम्परा शङ्कराचार्य को ईसापूर्व मानती है । समकालीन होने पर भी भारत के कोने-कोने में अद्वैत का डिण्डिम-घोष करने वाले और चारों दिशाओं में प्रतीक-स्थापना करने वाले शङ्कराचार्य का ज्ञान ही हरिभद्र को न रहा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता । आठवीं शताब्दी में भी शङ्कराचार्य, जिनकी आयु केवल बत्तीस वर्ष की कही जाती है, हरिभद्र के बाद हुये होंगे यह शङ्का की जा सकती है, किन्तु इन दोनों आचार्यों के जीवनकाल की निश्चित सीमारेखा पुष्ट ऐतिहासिक साक्ष्यों के अभाव में नहीं दी जा सकती । यदि एक क्षण के लिये मान भी लिया जाये कि शङ्कर हरिभद्र के जीव-

१–तर्करहस्यदीपिका-३४ वीं कारिका की व्याख्या ।

२–वही ३४ वीं कारिका की भूमिका ।

३—द्रष्टव्य परिशिष्ट ।। १ ।।

नान्त के बाद हुये तो भी हरिभद्र को ब्रह्मसूत्रकार व्यास को नहीं छोड़ना चाहिये था। यहाँ नहीं कहा जा सकता कि वह जैमिनि और जैमिनीय मत से तो परिचित थे किन्तु व्यास, उनके मत तथा ग्रन्थ से नहीं।

इन साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि हरिभद्र से लेकर गुणरत्न तक सभी सम्बद्ध जैनाचार्यों ने जानबूझ कर योग तथा वेदान्त की उपेक्षा की। इसका कारण स्पष्टतः इनके समक्ष साधना तथा सिद्धान्त दोनों से टक्कर में अपने मत की दुर्बलता की प्रतीति ही रही होगी। योग ने जिस अष्टाङ्ग का निरूपण किया है. वस्तुतः जैनो की तपःप्रधान साधना उसका एक अंश-मात्र है। अन्ततः विवश होकर राजशेखर को अष्टाङ्गयोग का महत्त्व स्वीकार करना पड़ा, किन्तु उन्होने तब भी पतञ्जलि या व्यास अथवा योग का साम्प्रदायिक स्वरूप स्वीकार नहीं किया और न उल्लिखित ही। शङ्कराचार्य ने आर्हत दर्शन का प्रबल युक्तियों से खण्डन किया है, अतः उनके अथवा सूत्रकार व्यास के नाम की चर्चा तक न करना हरिभद्र की मानवीय दुर्बलता का प्रमाण है।

दर्शन-संग्रह

पृथक्-पृथक् दर्शनों पर आचार्यों ने स्वतन्त्र अथवा टीका ग्रन्थों की रचना की है। उनकी संख्या विशाल है। एक से अधिक दर्शनो का परिचय कराने के लिए भी शुभेच्छु आचार्यों ने दर्शन-संग्रहों की रचना की थी। इनमें कुछ अवैदिक दर्शनों के परिचायक है, कुछ केवल वैदिक दर्शनों के और कुछ दोनों प्रकार के दर्शनों के। इन संग्रह-ग्रन्थों की भी संख्या स्वल्प नहीं है। उनमें अधिकांश का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

१—अवैदिकदर्शनसंग्रह—यह एक लघुकाय गद्यमय कृति है जिसमें बौद्ध-दर्शन के सौत्रान्तिक, वैभाषिक. योगाचार और माध्यमिक इन चार सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का सरल संस्कृत में निरूपण हैं। अन्त में जैनदर्शन और उसके दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायों की भी मान्यताओं का उल्लेख है। यहाँ चार्वाक दर्शन का उल्लेख नहीं है।

इस ग्रन्थ के प्रणेता श्री गङ्गाधरवाजपेययाजी हैं। ग्रन्थ में इनके विषय में कुछ भी वर्णन नहीं मिलता। यह ग्रन्थ श्रीरङ्गम के श्रीवाणीविलासमुद्रायन्त्रालय से सन् १९११ ई० में प्रकाशित हुआ था।

२—आर्यविद्यासुधाकर—इस ग्रन्थ को आर्यविद्याओं का परिचय कराने के लिये श्री यज्ञेश्वर चिमणभट्ट ने तैयार किया था जिसका सम्पादन म० म० पं० शिवदत्त द० कुडाल ने किया। मोतीलाल बनारसीदास की संस्था 'दि पञ्जाब संस्कृत बुक डिपो, लाहौर ने १९२२ ई० में इसे प्रकाशित किया।

अन्यविद्याओं के परिचय के प्रसंग में भट्ट जी ने चतुर्थप्रकाश में चार्वाक, बौद्धमत के माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक सम्प्रदाय और जैन इन छह नास्तिक दर्शनों के साथ न्याय, सांख्य, सेश्वरसांख्यभूत योगशास्त्र, धर्ममीमांसाशास्त्र, और ब्रह्म-मीमांसा इन आस्तिक दर्शनो का संक्षेप में निरूपण किया है। वैशेषिक का न्याय मे

ही अन्तर्भाव कर दिया है। इन दर्शनो के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने ग्रंथ के चतुर्थप्रकाश के ही प्रारम्भ में पौराणमत, तान्त्रिकमत, तन्त्रभेद और उनके लक्षण, चौसठ कौलतन्त्रों का नाम और उनका प्रतिपाद्य तथा प्रकाश के अन्त में विष्णुस्वामी, रामानुज, मध्व, वल्लभ, और स्वामिनारायण इन वैष्णव तथा पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर मतों का भी निरूपण कर दिया है। ग्रन्थ की भाषा सरल तथा स्पष्ट है।

३—**दर्शनषट्कम्** और

४—**दर्शनसंग्रह** भी प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु इनका विवरण नहीं मिल सका।

५—**दर्शनोदय**—इस ग्रंथ में समस्त दर्शनो का मूलसार संक्षेप में संगृहीत है। इसके प्रणेता म०म० श्रीनिवासाचार्य हैं। यह ग्रंथ मैसूर से प्रकाशित हुआ है।

६—**द्वादशदर्शनसोपानावलिः**—इसके रचयिता श्रीपादशास्त्री हसूरकर हैं। इसका प्रकाशन इन्दौर से सन् १९३८ ई० में हुआ।

इस ग्रन्थ में चार्वाक, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा इन बारह मतों का निरूपण है। उत्तरमीमांसा के मध्व, रामानुज, वल्लभ और शङ्कर के मतों का भी क्रमशः विवेचन है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक मत के प्रारम्भ में उसके सिद्धान्तों का एक-एक श्लोक में वर्णन है और बाद में गद्य में उनका विशद वर्णन। यही इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। संस्कृत सरल है।

७—**प्रस्थानभेद**—काशी के १६ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् संन्यासी मधुसूदन सरस्वती का यह ग्रन्थ मैक्समूलर[1] आदि पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा भी अत्यन्त प्रशंसित है। इस ग्रन्थ में सौगतदर्शन के प्रस्थानचतुष्टय, चार्वाक तथा जैनो का नामतः निर्देश कर उनको पुरुषार्थ में अनुपयोगी बतला कर छोड़ दिया गया, है। उसके बाद मन्त्र, त्रिविध ब्राह्मण, शिक्षा आदि वेदाङ्ग, उपाङ्ग, पुराण, उपपुराण आदि का अतिसंक्षिप्त उल्लेख करते हुये मधुसूदन सरस्वती ने आन्वीक्षिकी, कर्म तथा शारीरकमीमांसा, चारो उपवेद, अर्थशास्त्र, योगशास्त्र, पाशुपतमत, पाञ्चरात्रमत आदि का निरूपण किया है। विस्तृत न होने पर भी भारतीय विद्याओं के नाम आदि के ज्ञान के लिये यह ग्रन्थ उपयोगी है।

इसका प्रकाशन सर्वप्रथम प्रो० वेबर ने १८४९ ई० में कराया। उसके बाद इसका एक अच्छा अनुवाद प्रो० डिडसन ने १८९४ में प्रकाशित कराया। 'प्रस्थानभेद' आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि के ५१ वें अङ्क में भी 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अन्त में प्रकाशित हो चुका है।

८—**लघुषड्दर्शनसमुच्चय**—यह एक अतीव लघुकाय प्राचीन गद्यमय ग्रन्थ है जिसके रचयिता का पता नहीं है। हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की अहमदाबाद से

1–Six Systems of Indian Philosophy, pp. 75–84.

प्रकाशित श्रीविद्यातिलक की 'वृत्ति' के साथ यह प्रकाशित हुआ था । इसमें जैन आदि छहों दर्शनों का संक्षिप्त निरूपण है ! इस ग्रन्थ के कुछ वाक्य, जैसे—'नैयायिकाः पाशुपताः जटाधरविशेषाः । तेषां दर्शने ईश्वरो देवता ।···कणादस्य चाचार्यस्येदं काणादं जटाधरविशेषवैशेषिकदर्शनम् । तत्र ईश्वरो देवता ।···आत्मनः श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कारो मोक्षमार्गः । सांख्यदर्शनं मरीचिदर्शनम् । तत्र केषाञ्चित् कपिल एव देवता ।' विशेषतः विचारणीय हैं ।

९—**षड्दर्शनम्**—इस नामका भी ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, किन्तु इसके कर्त्ता आदि का विवरण प्राप्त नहीं हो सका ।

१०—**षट्शास्त्रविचार**–छह प्रधान सम्प्रदायों पर लिखित है,

११—**षड्दर्शनचन्द्रिका**

१२—**षड्दर्शनविचार**

१३—**षड्दर्शनसंक्षेप**

१४—**हरिशङ्कर कृत षड्दर्शनविवेक**

१५—**षड्दर्शनसिद्धान्तसंग्रह** (तञ्जौर के रामभद्र-कृत)

१६—**षडाम्नाय** (पद्यों में लिखित)

१७—**षडाम्नायषड्दर्शनसंक्षेपवाद** आदि कुछ संग्रहों का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने कैटेलागस कैटेलागोरम (पृ० ६७९) में किया है, किन्तु इनके प्रकाशित, अप्रकाशित आदि होने का कोई विशेष विवरण नहीं दिया ।

१८—**षड्दर्शनसंग्रहवृत्ति**—यह १३ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक और 'तत्त्वदीपिका' (चित्सुखी) के कारण विशेष प्रसिद्ध चित्सुखमुनि का ग्रंथ है । इसका भी उल्लेख आफ्रेक्ट ने किया है ।

१९—**षड्दर्शनसमुच्चय**—मलधारि राजशेखर सूरि ईसा की १४ वीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध आचार्य थे । उन्होंने ही इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ के विशेष विवरण के लिये परिशिष्ट (१) देखना चाहिए । इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीहरगोविन्ददास तथा बेचरदास ने काशी से भी कराया था जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं ।

राजशेखर के विषय में उनके ग्रंथ 'श्रीचतुर्विंशतिप्रबन्ध' की प्रशस्तियों से बहुत अधिक ज्ञात हो जाता है । यथा—

श्रीप्रश्नवाहनकुले कोटिकनामनि गणे जगद्विदिते ।
श्रीमध्यमशाखायां हर्षपुरीयाभिधे गच्छे ॥
मलधारिविरुदविदितश्रीअभयोपपदसूरिसन्ताने ।
श्रीतिलकसूरिशिष्यः सूरिश्रीराजशेखरो जयति ॥

तथा

तज्जो जयति सिरिभवः षड्दर्शनपोषणो महणसिंहः ।
ढिल्यां स्वदत्तवसतौ ग्रन्थमिमं कारयामास ॥
शरगगनमनुमिताब्दे ज्येष्ठामूलीयधवलसप्तम्याम् ।
निष्पन्नमिदं शास्त्रं श्रोत्रध्येत्रोः सुखं तन्यात् ॥

राजशेखर का वैदुष्य विख्यात था और उनको स्वयं गुरु से प्राप्त तर्कविद्या पर गर्व था। श्रीज्ञानचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'रत्नाकरावतारिकाटिप्पन' की प्रशस्ति में और मुनि भद्रसूरि ने भी अपने 'शान्तिनाथमहाकाव्य' में इनकी भूरि भूरि प्रशंसा की है।

राजशेखर के प्रख्यात दर्शन ग्रन्थ हैं—(१) स्याद्वादकलिका (२) स्याद्वादरत्नाकरावतारिकापञ्जिका (३) न्यायकन्दलीपञ्जिका (४) षड्दर्शनसमुच्चय आदि।

२०—**सर्वदर्शनकौमुदी**—इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीमाधवसरस्वती हैं। इस ग्रन्थ का सम्पादन करके श्री के० साम्बशिव शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम से १९३८ ई० में प्रकाशित कराया। श्रीमाधवसरस्वती के इन शब्दों से उनका पर्याप्त परिचय मिलजाता है—

गोराष्ट्रदेशोऽखिलराष्ट्रवर्यः सदाकरो दक्षिणदेशनिष्ठः ।
विराजते सह्यगिरीन्द्रसानौ यत्रास्ति गोकर्णमहाबलेशः ॥
तद्देशजन्मा यतिरेकदण्डी सरस्वतीमस्तकमाधवाख्यः ।
विगाह्य नद्यां दिशि दक्षिणस्यां सोदास्यपुर्यामकरोत् कृतिं सः ॥ पृ० ११२.

यह अपने को श्रीविद्येन्द्रवन का शिष्य कहते हैं।[1]

इस ग्रन्थ में मंगलवाद के पश्चात् वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसा, सांख्ययोग, चार्वाक, बौद्ध और वेदान्त दर्शनों का विशद निरूपण है। वैशेषिक दर्शन के प्रसंग में ही जैनदर्शन का भी संक्षिप्त निरूपण किया है। वेदान्त के प्रस्थानों तथा पञ्चपादिका आदि ग्रन्थों के विषय में रोचक वर्णन हैं।

श्रीमाधवसरस्वती जी विख्यात विद्वान् थे। उनके छः ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। सर्वदर्शनकौमुदी उनकी सम्भवतः अन्तिम रचना थी। उनके ग्रन्थ है (१) मयूखमाला नाम की चिन्तामणि की टीका (२) सप्तपदार्थी की मितभाषिणीटीका (३) कुसुमाञ्जलि की टीका मन्दानुकम्पिनी (४) वासिष्ठ की व्याख्या वासिष्ठपञ्जिका (६) अभिनवसप्तपदार्थी (६) सर्वदर्शनकौमुदी।

२१—**सर्वदर्शन-संग्रह**—१४वीं शताब्दी के विजयनगर के महाराज वीरबुक्क के मन्त्री माधव का यह ग्रन्थ बहुत विख्यात है। माधवाचार्य अपने अन्तिम दिनों में संन्यास लेकर विद्यारण्यभारती के नाम से विख्यात हुये और शृङ्गेरीपीठ के

१–विद्येन्द्रवननामानं श्रीगुरुं प्रणमाम्यहम् ।
विनेयभृङ्गसंलीढपादपङ्करुहासवम् ॥ वही पृ० २

शङ्कराचार्य भी हुये। इनके ग्रन्थ—पञ्चदशी, विवरणप्रमेयसंग्रह, अनुभूतिप्रकाश, जीवन्मुक्तिविवेक, बृहदारण्यकवार्तिकसार, शङ्करदिग्विजय, सर्वदर्शनसंग्रह आदि हैं।

इन्होंने अत्यन्त प्रामाणिक रूप से अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह, में चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर, औलूक्य, आक्षपाद, जैमिनीय, पाणिनीय, सांख्य, पातञ्जल, और शाङ्कर दर्शनों का विवेचन किया है। यह ग्रंथ बहुत लोकप्रिय हुआ, किन्तु आश्चर्य है कि इस पर टीकायें नहीं लिखी गयीं। किसी प्रकार श्रीवासुदेव अभ्यंकर शास्त्री ने बीसवीं शताब्दी में इस पर टीका लिखी जिसका प्रकाशन पूना से हुआ है। यह ग्रंथ आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रंथावली आदि अनेक रूपोंमें अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है।

२२. सर्वमतसंग्रह—इसका प्रकाशन श्री टी० गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम से १९१८ में किया था। इसके रचयिता का नाम आदि ज्ञात नहीं है। इस ग्रन्थ में प्रमाणनिरूपण, चार्वाक, क्षपणक, सुगत, कणाद, अक्षपाद, सेश्वरनिरीश्वर सांख्य, प्रभाकर आदि मीमांसक, सगुणब्रह्मवाद, निर्गुणब्रह्मवाद, पौराणिक आदि मतों का क्रमशः निरूपण है। ग्रंथ की शैली आकर्षक है।

२३. सर्वसिद्धान्तसंग्रह—यह शंकराचार्य विरचित कहा जाता है। भाषा तथा विवेच्य विषय-सामग्री को दृष्टि में रखते हुए इसके रचयिता आद्यशंकराचार्य नहीं कहे जा सकते है। संभव है किसी पीठाधीश्वर ने इसको रचा हो। इस ग्रन्थ का स्वतन्त्र सम्पादन करके पं० सूर्यनारायण शुक्ल ने बाराणसी से प्रकाशित कराया था।

इस ग्रंथ में कुल १२ प्रकरण हैं। इनमें उपोद्घात प्रकरण मे २५ श्लोक हैं, लोकायतिक में १५, आर्हत में १५, बौद्धों में माध्यमिक में १७॥, योगाचार में ९; सौत्रान्तिक में ७, वैभाषिक में ४०, वैशेषिक में ३७॥, नैयायिक में ४४॥, प्रभाकर में १५, भट्टाचार्य में ४१॥, सांख्य में ४०, पातञ्जलसेश्वरसांख्य में ६९, भारत में ६६, तथा वेदान्त में ९९ श्लोक हैं। ग्रंथ अत्यन्त सुबोध है।

हरिभद्रसूरि

श्री हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर जैन-सम्प्रदाय के लब्धकीर्ति आचार्य हो गये हैं। इस सम्प्रदाय में इस नाम के अनेक आचार्यो का उल्लेख मिलता है, जिनमें 'षड्दर्शन-समुच्चय' के रचयिता ही प्राचीनतम तथा सर्वाधिक विश्रुत हैं। जैनो की सामान्य परम्परा के अनुसार इनका देहान्त वि० सं० ५८५ में हुआ। इसके अनुसार हरिभद्र का समय छठी शताब्दी सिद्ध होता है, किन्तु प्रमुख जैनाचार्य तथा पुरातत्व के विद्वान् मुनिश्री जिनविजय ने इनका समय विक्रम की आठवीं-नवीं शताब्दी निश्चित किया है[१]। यही समय आज मान्य है।

१–जैन साहित्य संशोधक भाग १ अंक १.

जीवन--हरिभद्रसूरि ब्राह्मण वर्ण के थे और अद्भुत प्रतिभाशाली थे। यह चित्रकूट पर्वत के निकटवर्ती चित्तौड़ नामक नगरराज्य के जितारि नामक राजाके पुरोहित थे। एक बार यह एक जैनाश्रम के समीप से जा रहे थे, वहीं इन्होने साकिनी (याकिनी) नाम की एक जैन साध्वी से यह प्राकृत गाथा सुनी—

चक्की दुग्गं हरिपणागं चक्कणकेसवो चक्की।
केसवचक्की केसव दुचक्की केसवचक्कीय ॥

इसका अर्थ जानने को वह व्याकुल हो गये। उसी आर्हती ने उसके अभिप्रायज्ञान के लिये जिनभद्रसूरि के पास जाने को कहा। उन्होंन जैन-धर्म स्वीकार किये विना इसका रहस्य बतलाना अस्वीकार कर दिया और अन्ततः वह जैन-धर्म स्वीकार कर लिये। इस ज्ञान तथा धर्म परिवर्तन के मूल मे साकिनी के होने से इन्होंने अपने को याकिनी-साकिनी-धर्मपुत्र कहना प्रारंभ कर दिया। इसका संकेत गुणरत्न की 'तर्क-रहस्यदीपिका' के याकिनीमहत्तरावचनानवबोधलब्धबोधिबन्धुरो भगवान् श्रीहरिभद्र-सूरिः'[1] आदि शब्दों में तथा 'षड्दर्शनसमुच्चय' के दूसरे एक व्याख्याकार श्रीविद्या-तिलकसूरि द्वारा लिखित टीका के प्रारम्भिक[2] श्लोक तथा पुष्पिका[3] की पंक्तियों मे स्पष्टतः मिलता है। याकिनी महत्तरा के यह इतने आभारी हुए कि माता-पिता के स्थान पर उसी का नाम हो गया, इनके वास्तविक जनकों-माता-पिताओं-का पता ही न रह गया।

वैदुष्य और ग्रन्थ—इनके सभी व्याख्याकारों ने बड़े आदर के साथ इनका नाम लिया है। मणिभद्र अपनी टीका के उपोद्‌घात में इनको 'श्रीजिनशासनप्रभावना-विभावक-प्रभोदय-भूरियश,[4] गुणरत्न अपनी टीका के उपोद्‌घात में 'श्रीजिनशासन प्रभावनाप्रभाताविर्भावनभास्करः,[5] कहते हैं।

१–तर्करहस्यदीपिका पृ. २।

२– जैनं यदेकमपि बोधविधायिवाच्यमेवं श्रुतिः फलवती भुवि येन चक्रे।
चारित्रमाप्य वचनेन महत्तरायाः श्रीमान् स नन्दतु चिरं हरिभद्रसूरिः। पृ. १
यह श्लोक मणिभद्र की भी टीका में मिलता है।

३–इति **श्रीयाकिनीमहत्तराधर्मसूनु**-भवविरहाङ्कसुप्रसिद्धश्रीमज्जैनशासनाम्बरत-लमिहिरायमाणाचार्य–श्रीहरिभद्रसूरिसंदृब्धम्·········। पृष्ठ. १५४

४–द्रष्टव्य–पृ० १, इस ग्रंथ की टीका के इन्हीं शब्दों का प्रयोग विद्यातिलक ने भी किया है।

५–तर्करहस्यदीपिका पृ. २.

हरिभद्रसूरिरचित ग्रंथों की संख्या एकस्वर से चौदह सौ स्वीकार की जाती है। मणिभद्र,[१] गुणरत्न[२] और विद्यातिलक[३] तीनों ने इनके ग्रन्थों की संख्या समान मानी है। कुछ विद्वान् इनके ग्रन्थों की संख्या १४४४ स्वीकार करते[४] हैं। संभव है शेष ४४ ग्रन्थ अन्य हरिभद्रों के द्वारा लिखे गये हों जिन्हे भ्रमवश इनके नाम से ही सम्बद्ध कर दिया गया हो। यदि ऐसा न होता तो मणिभद्र से लेकर विद्यातिलक तक के टीकाकारों में कई शताब्दियाँ बीतने से संख्या में अन्तर भी दृष्टिगोचर होता। तथापि यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि जहाँ तक संख्या का प्रश्न है अब तक के इतिहास में हरिभद्र से अधिक ग्रन्थ किसी भी एक व्यक्ति ने नहीं लिखा। महर्षि व्यास के ग्रन्थों का कलेवर विशाल है और ग्रन्थ भी कम नहीं हैं तथापि संख्या कम ही है। अप्पयदीक्षित ने छोटे-बड़े मिलाकर एक सौ चार ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु चौदह सौ की संख्या इनसे लगभग चौदह गुनी है।

हरिभद्र के ग्रन्थ संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में हैं। ग्रन्थों का विवेचन स्वयं में एक शोध-प्रबन्ध का विषय है। यहाँ इनके कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों का नाम दिया जा रहा है—

(१) अनेकान्तजयपताका (२) शास्त्रवार्तासमुच्चय (३) योगबिन्दु (४) योगदृष्टिसमुच्चय (५) न्याय-प्रवेशसूत्र (६) अनेकान्तवाद-प्रवेश (७) ललितविस्तर (८) समराइच्च कहा (९) लोकतत्त्वनिर्णय (१०) षड्दर्शनसमुच्चय

षड्दर्शनसमुच्चय—यह ग्रन्थ केवल ८७ कारिकाओं का संग्रह है किन्तु अपने में बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रकाशित दर्शनसंग्रहों के इतिहास में संभवतः यह प्राचीनतम है। कुछ पहले विवेचित बीसों दर्शन-संग्रहों में यही सबसे प्राचीन दृष्टिगोचर होता है। सम्प्रति प्रचार की दृष्टि से माधवाचार्य का 'सर्वदर्शन-संग्रह' संभवतः इससे आगे हो किन्तु द्वितीय स्थान इसका अवश्य होगा।

इसकी निरूपण शैली, विषय की स्पष्टता आदि से राजशेखरसूरि बहुत प्रभावित थे। उन्होने अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में ८७ कारिकाओं के इस ग्रन्थ से ३४

१–चतुर्दशशतप्रकरणकरणोपकृतजिनधर्मो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः——। उपोद्घात।

२–चतुर्दशशतसंख्यशास्त्रविरचनाजनितजगज्जन्तूपकारः—। तर्करहस्यदीपिका पृ० १

३– मणिभद्र के ही शब्द हैं। वृत्ति पृ० २

४– हंसराजशास्त्रीः दर्शन और अनेकान्तवाद, पृ० १९, मुर्शिदाबाद, १९२८ ई०

कारिकाओं को कहीं पूर्णतः तथा कहीं अंशतः अक्षरशः सम्मिलित किया है[1]। इसकी अपेक्षा राजशेखर के ग्रन्थ में अनेक वैशिष्ट्य हैं। उनके ग्रन्थ में विषयों का निरूपण कुछ अधिक विस्तृत हैं। उन्होने प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में स्वीकृत देवता, आचार, वेष, चिह्न तथा गुरुओं का भी 'यथा दृष्टं तथा श्रुतम्' उल्लेख भी कर दिया है। प्रत्येक सम्प्रदाय के निरूपण के अन्त में प्रमुख आचार्यों के ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। उन्होने चार्वाक को नास्तिकदर्शन कह कर षड्दर्शनो में उसको स्थान नहीं दिया और उसके सिद्धान्तों की आलोचना भी कर दी है।[2]

हरिभद्र ने विवेचित दर्शनों के जिन विषयों का निरूपण किया है, वहाँ पूर्णनिष्ठा प्रदर्शित की है। कुछ कारिकाओं के शब्द तो तत्तद् दर्शनो के आचार्यों के ही शब्द हैं। उदाहरणार्थ बौद्धदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष के लक्षण में प्रयुक्त शब्द[3] दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' (१।३) के शब्द-'प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढं नामजात्याद्यसंयुतम्' के बहुत-समान हैं। जैनदर्शन से सम्बद्ध[4] कारिका का अंश 'अनन्तधर्मकं वस्तु' हेमचन्द्र के 'अन्य योग-व्यवच्छेदिका' (का०२२) के ''अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्'' का उपजीव्य है। हरिभद्र द्वारा प्रदत्त नैयायिको का प्रत्यक्ष-लक्षण—

तत्रेन्द्रियार्थसम्पर्कोत्पन्नमव्यभिचारि च ॥
व्यवसायात्मकं ज्ञानं व्यपदेशविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षम्.............................. ॥[5]

अक्षपाद के द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यक्षलक्षण—''इन्द्रियार्थ–सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्य-मव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'' का छन्दोबद्धरूप सा प्रतीत होता है। यही बात इनके द्वारा प्रदर्शित मीमांसा के प्रत्यक्ष[6]-लक्षण—

१– इस ग्रन्थ की कारिकायें–४,५,६,७,१४, १५,१६, ३३, ३४, ३५, ३६,३७,३८, ३९,४०,४१,४७,६०,६१,६२,६३,६४, ६५,६६,६९, ७०,७१,७२,८०,८१,८२, ८३ ८४,८५, तथा राजशेखर की १३७,१३९,१४०,१४१,९७,९८,९९,४५, ४६,४२, ४७, ४८,४९, ५०, ५१,१२, ११६, ११७,११८,११९,१२०,१२१, १२२,६४, ६५,६६,६९,७०,१५९,१६०,१६१,१६२,१६३,१६४, क्रमशः तुलनीय हैं।

२–द्रष्टव्य परिशिष्ट (१)

३–द्रष्टव्य कारिका ॥ १० ॥

४–द्रष्टव्य कारिका ॥ ५५ ॥

५–ष० द० समुच्चय का० ७७, ७८ ॥

६–न्यायसूत्र १।१४ ॥

तत्र प्रत्यक्षमक्षाणां संप्रयोगे सतां सति ।
आत्मनो बुद्धिजन्मेति·········।। ७३ ।।

तथा मीमांसासूत्र के शब्द—"संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' इति ।' में भी साम्य स्पष्ट है ।

उक्त कुछ साम्यों के प्रदर्शनों से हरिभद्र की यथासम्भव निष्पक्षता सिद्ध होती है ।

हरिभद्र ने प्रत्येक दर्शन के लिये लगभग समान संख्या में कारिकाओं को लिखा । प्रमेयों की संख्या अधिक होने से नैयायिकमत को कुछ अधिक शब्दों में स्पष्ट किया गया है । बौद्धदर्शन के प्रसङ्ग में सौत्रान्तिकमत को ही प्रधानता दी गयी और उसके अन्य भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है, इसके अनेक उचित कारण हो सकते हैं ।[१] जैनदर्शन के निरूपण में अधिक सहजता तथा स्पष्टता की प्रतीति होती है ।

षड्दर्शनसमुच्चय के व्याख्याकार—दर्शनसंग्रहों में हरिभद्रकृत 'षड्दर्शन-समुच्चय' को ही अनेक टीकाकार प्राप्त करने का सौभाग्य मिला । यद्यपि यह ग्रन्थ दुरूह नहीं था और इसमें प्रदत्त सामाग्री भी राजशेखरसूरि के ग्रन्थ की तुलना में कम ही है, तथापि राजशेखर के बाद उत्पन्न हुये गुणरत्न ने भी इसी ग्रन्थ पर अपनी व्याख्या लिखी । आज सर्वाधिक विख्यात 'सर्वदर्शनसंग्रह' पर कोई प्राचीन टीका नहीं । कई शताब्दियों बाद कुछ वर्ष पूर्व वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर ने उस पर टीका लिखी है ।

मणिभद्र और उनकी लघुवृत्ति—मणिभद्र एक प्रतिभाशाली कट्टर जैन थे । इनके जीवन आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता । 'षड्दर्शन-समुच्चय' पर इनकी टीका का नाम 'लघुवृत्ति' है !

इस ग्रन्थ की सम्भवतः यही टीका प्राचीनतम है । यह टीका सर्वप्रथम काशी से ही चौखम्बा संस्कृत सीरीज से १९०५; १९२९;१९५७ में श्रीदामोदरलाल गोस्वामी ने संशोधित करके छपायी थी । आज इस रूप में प्रकाशित हो रही है ।

मणिभद्र की टीका प्रमाणवाक्यों से प्रचुरतः पूर्ण होने से परवर्ती टीकाकारों के लिये प्रामाणिक उपजीव्य रही है, तथापि कुछ स्थलों पर अधिक विशदता की अपेक्षा रही । जैमिनीय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष का निरूपण करते समय ७३ वीं कारिका की इनकी टीका चिन्त्य है । वहाँ इन्होने 'आत्मनो बुद्धिजन्म' इस प्रत्यक्षलक्षण के अंश को अनुमान के लक्षण के साथ सम्बद्ध किया है जो जैमिनिसूत्र में दिये गये प्रत्यक्ष-लक्षण को देखने से असङ्गत सिद्ध होता है । इस प्रसङ्ग में गुणरत्न की

१—एतानि दुःखादीन्यार्यसत्यानि चत्वारि यानि ग्रन्थकृताऽत्रानन्तरमेवोक्तानि सौत्रान्तिकमतेनैवेति विज्ञेयम् । गुणरत्न, तर्करहस्यदीपिका पृ० ३१

व्याख्या समुचित है[1]। मणिभद्र की 'वृत्ति' में दूसरा दोष यह है कि हरिभद्रकी कारिकाओं में उपयुक्त पाठान्तरों का प्रयोग नहीं है। ग्रन्थ में दिये गये पाठान्तर निःसन्देह अच्छे हैं किन्तु मणिभद्र ने उनको व्याख्या के लिये नहीं लिया। संभव है उनको कारिकाओं का भ्रष्टपाठ ही उपलब्ध हुआ हो और उसी पर उन्होने 'वृत्ति' लिख डाली हो।

गुणरत्नसूरि और उनकी टीका 'तर्करहस्यदीपिका'—यह भी जैनदर्शन के प्रकाण्डपण्डित थे। इनका समय विक्रम की चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी माना जाता है। संभवतः इन्होने अपना ग्रन्थ 'रत्नसमुच्चय' वि० सं०१४६६ में लिखा था। इनके गुरु का नाम देवसुन्दर सूरि था। यह अपने को 'तपागण' गच्छ का मानते थे। प्रत्येक मत के श्लोकों की व्याख्या के अन्त में इन्होंने अपने 'गण' और गुरु का नामोल्लेख किया है।[2]

इनकी व्याख्या का नाम 'तर्करहस्यदीपिका' है जिसे मणिभद्र की वृत्ति से बड़ी होने के कारण 'बृहद्वृत्ति'[3] भी कहा गया है। इनकी टीका में मणिभद्र की टीका के अनेक वाक्य तो ज्यों के त्यों गृहीत ही हैं, अन्यग्रन्थों के बहुसंख्यक उद्धरण भी वहीं से लिये गये प्रतीत होते हैं। मणिभद्र की वृत्ति में उद्धृत ३७ श्लोक तथा गाथायें इनकी वृत्ति में उपलब्ध होती हैं।

विषय की दृष्टि से गुणरत्न[4] राजशेखरसूरि के आभारी हैं। जिस प्रकार राजशेखर

१—तत्र इति निर्धारणार्थः। इयमत्राक्षरघटना। सतां संप्रयोगे सति आत्मनोऽक्षाणां बुद्धिजन्म प्रत्यक्षमिति। श्लोके तु बन्धानुलोम्येन व्यस्तनिर्देशः। सतां विद्यमानानां वस्तूनां सम्बधिनि प्रयोगे सम्बन्धे सति आत्मनो जीवस्येन्द्रियाणां यो बुद्ध्युत्पादः तत्प्रत्यक्षमिति। सतामित्यत्र सत इत्येकवचनेनैव प्रस्तुतार्थसिद्धौ षष्ठीबहुवचनाभिधानम् बहूनामप्यर्थानां सम्बन्ध इन्द्रियस्य संयोगः क्वचन भवति इति ज्ञापनार्थम्। अत्र जैमिनीयं सूत्रमिदं "संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षं' इति। व्याख्या। सता विद्यमानेन वस्तुनेन्द्रियाणां सम्प्रयोगे सम्बन्धे सति पुरुषस्य यो ज्ञानोत्पादः तत्प्रत्यक्षम्। अयमत्र भावः। यद्विषयं विज्ञानं तेनार्थेन सम्प्रयोग इन्द्रियाणां प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षाभासं त्वन्यसंप्रयोगजं यथा मरुमरीचिकादिसंप्रयोगजं जलादिज्ञानमिति। अथवा सत्संप्रयोगजन्यं विद्यमानोपलम्भनत्वमुच्यते। तत्र सति विद्यमाने सम्यक्प्रयोगोऽर्थेष्विन्द्रियाणां व्यापारो योग्यता वा, न तु नैयायिकाभ्युपगत एव संयोगादिः। तस्मिन् सति शेष प्राग्वत्। इति शब्दः प्रत्यक्षलक्षणसमाप्तिसूचकः। गुणरत्न—तर्करहस्यदीपिका पृ.२९०-२९१

२—इति तपागणनभोऽङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिशिष्यश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकायाम्......॥ पृ. ४८ आदि,

३—अयं (षड्दर्शनसमुच्चयः) गुणरत्नसूरिणा मणिभद्रेण च विदुषा क्रमतो बृहत्त्या लघ्व्या च टीकया समलङ्कृतः मुद्रितश्च। पं० कल्याणविजय—धर्मसंग्रहणी पृ.१८

४-द्रष्टव्य परिशिष्ट (५)

ने प्रत्येक मत के विवेचन के प्रारम्भ में उस सम्प्रदाय के आचार्य, उनके लिङ्ग, वेष, आचार, देवता आदि का तथा अन्त में प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उसी प्रकार लगभग उन्हीं शब्दों में गद्य में गुणरत्न ने भी किया है। इस प्रकार गुणरत्न की टीका हरिभद्र और राजशेखर दोनों की षड्दर्शनी का विस्तृत सङ्कलन है।

'तर्करहस्यदीपिका' मणिभद्र की लघुवृत्ति से अधिक विस्तृत एवं प्रामाणिक है। गुणरत्न ने प्रत्येक कारिका की व्याख्या करते समय उस-उस दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रत्यक्ष प्रयोग किया है। यही कारण है कि उनकी व्याख्या मणिभद्र की व्याख्या से अधिक समीचीन एवं संगत हो गयी है, अतः यह मूलग्रन्थकार के अभिप्राय के अधिक निकट तथा निर्भ्रान्त है। जहाँ भी उन्होंने किसी आचार्य की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, वहीं उनकी व्याख्या भी यथासंभव दे दी है।

गुणरत्न की 'रहस्यदीपिका' का सर्वप्रथम प्रकाशन लुइगी सुआली (Luigi Suali) ने १९०५ ई० में कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी से कराया था। दूसरा प्रकाशन दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

विद्यातिलक और उनकी विवृति—हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की तीसरी महत्त्वपूर्ण टीका 'विवृत्ति है'। इसके रचयिता श्रीविद्यातिलक हैं जिनका एक नाम सोमतिलक भी था। इनके उपनाम आदि का ज्ञान इनकी विवृति की पुष्पिका से होता है।[1] इनकी व्याख्या के उपोद्घात के अंश से भी ज्ञात होता है कि यह रुद्रपल्लीगण के थे, इनके गुरु श्रीसङ्घतिलकसूरि थे, और इन्होंने १३९२ वि० सम्वत् में १२५२ अनुष्टुप् परिमाण की टीका लिखी थी।[2] इस प्रकार समयक्रम में यह मणिभद्र के परवर्ती तथा

१—इतिश्रीयाकिनीमहत्तराधर्मसूनु—भवविरहाङ्कसुप्रसिद्धश्रीमज्जैनशासनाम्बरतल—मिहिरायमाणाचार्य-श्रीहरिभद्रसूरिसंदृब्धं श्रीषड्दर्शनसमुच्चयसूत्रं श्रीरुद्रपल्लीगण-गणेश-श्रीसङ्घतिलकसूरिशेखरपट्टप्रद्योतनाचार्यपुङ्गव-श्रीविद्यातिलकापरनाम-श्रीसोमतिलकसूरिवरविनिर्मिता व्याख्या च परिसमाप्ता। पृ. १५४

२—श्रीरुद्रपल्लीयगणे गणेशः श्रीचन्द्रसूरिर्गुणराशिरासीत्।
तद्बन्धुरिन्द्रप्रभकीर्तिसूरिर्जीयाच्चिरं श्रीविमलेन्दुसूरिः॥ १॥
नन्दन्तु श्रीगुरवः श्रीगुणशेखरमुनीश्वरास्तदनु।
श्रीसङ्घतिलकसूरिस्तत्पट्टे जयतु चिरमधुना॥ २॥
तत्पदपयोजभृंगो विद्यातिलको मुनिर्निजस्मृतये।
षड्दर्शनीयसूत्रे चक्रे विवृतिं समासेन॥ ३॥
वैक्रमेऽब्दे युग्मनन्दविश्वदेवप्रमाणिते। (१३९२)
आदित्यवर्धनपुरे शास्त्रमेतत् समर्थितम्॥ ५॥
सप्ताशीतिश्लोकसूत्रटीकामानं विनिश्चितम्।
सहस्रमेकं द्विशती द्वापञ्चाशदनुष्टुभाम्॥ ७॥

गुणरत्न के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं । इनकी भी टीका में मणिभद्र की छाया सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है ।

इस ग्रन्थ को सम्पादन करके श्री विजयप्रेमसूरि-पट्टप्रभावकाचार्य श्री विजयजम्बूसूरि ने वि० संवत् २००६ में अहमदाबाद से प्रकाशित कराया ।

अन्य टीकायें—इन तीन महत्त्वपूर्ण एवं प्रकाशित व्याख्याओं के अतिरिक्त गुणाकरसूरि और चारित्रसिंहगणि के द्वारा लिखित व्याख्याओं का भी उल्लेख मिलता है। हरिभद्रसूरि के किसी शिष्य ने 'अवचूरि' नाम की भी कोई टीका लिखी थी, किन्तु ये तीनों टीकायें दृष्टिगोचर नहीं हुई । इन तीन संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा में अनुवाद तथा टिप्पणियों के साथ सम्पादित करके केवल हरिभद्र की कारिकाओं को वालटेयर नगर के डा० के० सच्चिदानन्द मूर्ति ने टैगोर पब्लिशिंग हाउस, नेनाली, आंध्रप्रदेश से १९५७ ई० में प्रकाशित कराया था । इस अनुवाद तथा टिप्पणी में मणिभद्र की 'लघुवृत्ति' से प्राप्त सहायता को स्वीकार किया गया है ।

एक छोटे से ग्रन्थ पर छह-छह जैन आचार्यों द्वारा विस्तृत टीकाओं के लिखे जाने से हरिभद्रसूरि के प्रति उनकी श्रद्धा प्रकट होती है । एक टीकाकार के द्वारा टिप्पणी करके मार्ग प्रशस्त कर देने से लेखन में सरलता भी परवर्तियों की प्रेरणा का कारण हो सकती है ।

मकरसंक्रान्ति
वि० सं० २०३५

—कामेश्वरनाथ मिश्र

श्रीश्रीगौरकृष्णः शरणम्

भूमिका

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ।।

अयि षड्दर्शनीवल्लभाः !

लभतां ननु भवतामासेचनकतां चिररात्राय चिन्वानायास्तन्वानायाश्च हृद्यायाः किल वोऽस्याः षड्दर्शन्याः समुद्वेलोत्कण्ठोदधेरुद्ग्रीविकासहस्रप्रदानं श्रीमतामात्मदर्शनाय सौखप्रकटनिकता भवत्सु पदम् ।

न हि खलु सर्वदर्शनसंग्रहादिजातीयनिबन्धैः समं पास्पर्द्धदयं निबन्धो नामाकर्णनमात्रजनुर्भ्रमैर्भवादृशैर्हेलालवमपि जामितासध्रीचीनं नेयस्तत्त्वनिभालनमार्मिकतास्वयंवृतैः, नयनाञ्चलार्पणायासमात्रेण चेदमीयरहस्यमनुबोभुवतो भवन्तो भविष्यन्ति, कृतमर्थवादविडम्बनेन ।

अयञ्च निबन्धः सप्ताशीत्या पद्यैर्निर्मितो ग्रन्थकर्त्रा षड्दर्शनसमुच्चयनाम्ना प्रसेधितः, दर्शनपदार्थश्चैतादृशस्थले दृश्यते ज्ञायत आत्माऽनेनेति ज्ञानसामान्यार्थकात् पश्यतेः करणल्युटा निष्पन्नदर्शनपदजन्यज्ञानविषयः चेतनवस्तुविचारप्रवणागमात्मकः, दर्शनगतषट्संख्याविधायां तु तैर्थिकानां भूयांसि मतानि—

केचित् खलु पूर्वोत्तरमीमांसाद्वयं निरीश्वरसेश्वरसांख्यद्वयं षोडशसप्तपदार्थाख्यायिन्यायद्वयं चेति मिलितानि दर्शनषट्कं प्राहुः ।

अन्ये पुनः सौत्रान्तिक-वैभाषिक-योगाचार-माध्यमिक-प्रभेदबौद्धेन जैनलौकायतिकाभ्याञ्च पूर्वदर्शनषट्कं द्वादशदर्शनीं प्रतिजानते ।

परे तु मीमांसक-सांख्य-नैयायिक-बौद्ध-जैन-चार्वाकाणां दर्शनानि षड्दर्शनीं संगिरन्ते । प्रकृतनिबन्धकारस्तु—

बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा ।
जैमिनीयञ्च नामानि दर्शनानाममून्यहो ।।

इति तृतीयकारिकायां प्रकारान्तरमेवान्वसरद् ।

अपराणि चापि दर्शनान्येकेऽमन्यन्त, यानि सर्वदर्शनसंग्रह-सर्वदर्शनशिरोमण्यादिनिबन्धेषु व्यक्तानि, परन्तु न ज्ञायते दर्शनविभागस्य स्वेच्छयैवेशानैस्तद्विभागकर्तृमहाभागैः केनागसाऽसौ तपस्विनी दर्शनसंख्यैतादृगपव्यवस्थाविपदमनायीति, कथं वा दोषैकदृग्भ्यो रोचतेऽप्ययमवधीरितनिजस्वरूपोऽपरिगणयद्भ्यो 'रसो वै स' इत्यादिप्रमाणमूर्धन्यनैकविधोपपत्तिप्रसाधितरसस्वरूपात्मप्रतिपादनपरभारतीयदर्शनम्, यतः—स्वसमभिव्याहृतपदार्थताऽवच्छेदकव्याप्यपरस्परासमानाधिकरणयावद्धर्म्मप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारात्मकं हि विभागं तज्ज्ञाः समभिप्रयन्ति ।

न चेत्थंभूततैभिरुक्तचरेष्वेकमपि विभागमाश्रयते, प्रकृतनिबन्धः त्वशेषदर्शनसम्राजं वेदान्तमवहेलयन् 'दीपाधस्तिमिर' न्यायमेव समालम्बते, आस्तां वैषा दुर्व्यवस्था, कृतमनेनानुपक्रान्तविमर्शेन, किन्तु तिष्ठत्येवायं निबन्ध आपाततः पञ्चषदर्शनीयस्यवीयोऽनेकविषयनिरूपणेन प्रविविक्षुजनानां कतिपयपदार्थावबोधसंपदं वितरीतुं बद्धपरिकर इति नात्र विशयलेशोऽपि ।

अस्य च षड्दर्शनसमुच्चयस्य निर्म्माता परमार्हतो हरिभद्रसूरिः । अयं हि हरिभद्रसूरिर्जात्या ब्राह्मणः, चित्रकूटाद्रिनिकटवर्त्तिचित्तौडाख्यनगरराज्यासनारूढस्य जितारिनामकभूपस्य पुरोहितः प्रौढाभिरूपः कदाचित् क्वचनोपजैनोपाश्रयं—

चक्कीदुगं हरिपणागं चक्कणकेसवो चक्की ।
केसवचक्की केसव, दुचक्की केसवचक्कीय ॥

इति गाथां साकिनीनाम्न्याःकस्याश्चिदार्हत्याः साध्व्या मुखात् निशम्योदितविस्मयातिशयस्तदर्थमवबुभुत्समानो भृशमागृहयालुतां दधदप्यनुपलभमानोऽनुनीयमानयाऽपि निजधर्ममर्मरक्षणशिक्षणपरायणया तया गोपितां तद्गाथाप्रतिपत्तिं; तयैव सूचितं तदर्थावबोधवितरणपरिवृढं जैनविपश्चिदपश्चिमं जिनभट्टसूरिं तदवगतयेऽत्यर्थमन्वरुणत् । तथाऽनुरोरुध्यमानमानसमेनमवेत्य जिनभट्टसूरिणाऽपि 'विनाऽर्हतधर्म्मोपदेशमेषाऽनीषदवगमा गाथे' त्युक्तोऽयं तदैव विरज्याशिश्रियज्जिनोपदिष्टधर्मम्, अनन्तरञ्च क्रमेणानेकान्तजयपताका- ललितविस्तर- चैत्यवन्दनवृत्ति- दर्शनसप्ततिका-मुनिपतिचरित्र-वेदबाह्यतानिराकरण-श्रावकधर्मविधि-समरादित्यचरित्र-योगबिन्दुप्रकरणवृत्ति-षड्दर्शनसमुच्चय–प्रभृतिनिबन्धप्रकाण्डाग्रेसरां चतुश्चत्वारिंशदुत्तर–चतुर्दशशतीं ग्रन्थानां व्यरचत् । जन्मसमयश्च हरिभद्रसूरेः प्रायः पञ्चम्या वैक्रमशताब्द्याः समात्युपकण्ठमनुमीयते, यतः षष्ठ्यास्तच्छताब्द्याः पञ्चत्रिंशे वर्षेऽयं पञ्चत्वमगमदिति निरदीधरन्नैतिहासिकाः ।

तत्त्वप्रबोधादिनिर्म्माता हरिभद्रसूरिस्तु भिन्न एवास्मादत्यर्वाचीनः खर्त्तुदस्रेन्दुमितविक्रमादित्याब्देऽविद्यतेति ।

इदं च सर्वमेतदीयवृत्तं जामनगरवास्तव्यपण्डितश्रावकहीरालालसम्पादित 'जैनधर्मप्राचीनेतिहास' नामकग्रन्थाश्रयादुदधारीत्यैतिह्यविदो विदाङ्कुर्वन्तु ।

टीकाकृन्मणिभद्रसूरिवृत्तं तु विहितेऽपि भूयसि मार्गणे नाल्पीयोऽप्यध्यगम्यद्यावधि भविष्यन्त्यां तदधिगतौ क्वचनावसरेऽवश्यमितिहासरसिकमनोविनोदाय प्रकाशयिष्यत इत्याशामहे ।

अत्युपादेयस्य सटीकस्यास्य ग्रन्थस्याधुनाऽवध्यप्रकाशनमवेक्ष्य दूयमानमानसेनानुक्षणमप्रकाशितप्राचीनप्रशस्तभूरिदर्शननिबन्धप्रकटीकृतबद्धपरिकरेण विद्याऽनुरागिणा सौजन्यशेवधिनाऽस्मद्भक्तवरेण श्रेष्ठिना श्रीहरिदासगुप्तेन भृशमेतच्छोधनाय प्रार्थितोऽहं व्यापृतोऽप्यन्यात्मीयावश्यकशास्त्रीयकार्यकार्येपूक्तश्रेष्ठिभक्तिमात्रवशंवदः समभ्युपागममेनत् ।

अस्य चैकं सटीकं प्रायोऽशुद्धं जयपुरस्थसाहित्याचार्यविहारिलालशास्त्रिण उक्तश्रेष्ठिनैव तत आनाय्य मदन्तिकं प्रापितम् ।

द्वितीयं च स्वकीयमेव श्रीवृन्दावनस्थश्री१०८भगवन्मदनगोपालपुस्तकालयस्थमहमानैषम्, एवं पुस्तकद्वयाश्रयतः समुपक्रान्तवान् मुद्रयित्वा प्रकाशनायाहममुं ग्रन्थम् । अत्यल्पीयसा समयेनैतत्प्रतिपाद्यं जिज्ञासूनाञ्च हिताय कारिकात्मकं मूलमात्रं पर्यशीशिषम् । मध्ये चास्यागतानि प्राकृतवचनानि संस्कृत्य परिशिष्टात्मना समावीविशम् । अत्र चात्यवदधतोऽपि शोधने मन्मानुष्यकनान्तरीयकदृष्टिदोषादिजन्मानोऽशुद्धयो मर्षणीयाः सौजन्यवद्भिर्भवद्भिः ।

इत्थमदः साङ्गं ग्रन्थरत्नं स्वकीयविद्याविलासनामके काशीस्थे यन्त्रालये श्रेष्ठिहरिदासेन स्वीयव्ययेनाविर्भावितं मत्तश्च जातसंशोधनमनुसृत्य मरालपद्धतिं भवादृशाश्चेद् दृक्पथपथिकीकुर्युर्भवेतां किल फलेग्रहिश्रमौ शोधकप्रकाशकावित्यत्र न नाममात्रयाऽपि सन्देहः ।

प्रीयताञ्चानेनास्मद्व्यापारेण सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्दविग्रहो भगवान् श्री १०८ राधिकारमण इति ।

विजयदशम्याम्
सं० वै० १९६२

—दामोदरलाल गोस्वामी

॥ श्रीः ॥

आनन्दवनविद्योतिसुमनोभिः सुसंस्कृता ।
सुवर्णाऽङ्कितभव्याभशतपत्रपरिष्कृता ॥ १ ॥
चौखम्बा-संस्कृतग्रन्थमाला मञ्जुलदर्शना ।
रसिकालिकुलं कुर्यादमन्दाऽऽमोदमोहितम् ॥ २ ॥

॥ श्रीः ॥

षड्दर्शनसमुच्चयः

मणिभद्रकृत 'लघुवृत्ति' सहित–

'दर्शनकौमुदी' हिन्दीव्याख्योपेतः

टीकाकर्तृमङ्गलाचरणम्

सज्ज्ञानदर्पणतले विमलेऽत्र यस्य
ये केचिदर्थनिवहाः प्रकटीबभूवुः ।
तेऽद्यापि भान्ति कलिकालजदोषभस्म-
प्रोद्दीपिता इव शिवाय स मेऽस्तु वीरः ॥
जैनं यदेकमपि बोधविधायिवाक्य-
मेवं श्रुतिः फलवती भुवि येन चक्रे ।
चारित्रमाप्य वचनेन महत्तरायाः
श्रीमान्स नन्दतु चिरं हरिभद्रसूरिः ॥
सन्निधेहि तथा वाणि ! षड्दर्शनाङ्कषड्भुजे ।
यथा षड्दर्शनव्यक्तिस्पष्टने प्रभवाम्यहम् ॥
व्यासं विहाय संक्षेपरुचिसत्त्वानुकम्पया ।
टीका विधीयते स्पष्टा षड्दर्शनसमुच्चये ॥

इह हि श्रीजिनशासनप्रभावनाविभावकप्रभोदयभूरियशश्चतुर्दशशतप्रकरण-करणोपकृतजिनधर्मो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः षड्दर्शनप्रमाणपरिभाषास्वरूप-जिज्ञासुशिष्यहितहेतवे प्रकरणमारिप्समानो निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्त्यर्थं स्वपरश्रेयोऽर्थं च समुचितेष्टदेवतानमस्कारपूर्वकमभिधेयमाह—

सद्दर्शनं जिनं नत्वा वीरं स्याद्वाददेशकम् ।
सर्वदर्शनवाच्योऽर्थः संक्षेपेण निगद्यते ॥ १ ॥

शोभन मतवाले, जितेन्द्रिय, स्याद्वाद[1] के उपदेशक, महावीर स्वामी को प्रणाम

---

१. स्याद्वाद जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। प्रत्येक न्यायवाक्य में 'स्यात्' लगा होने से 'स्याद्वाद' नाम पड़ा। ये वाक्य सात हैं जो इस प्रकार हैं—(१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति (३) स्यादस्ति च नास्ति च (४) स्यादवक्तव्यम् (५) स्यादस्ति च अवक्तव्यम् (६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यम् (७) स्यादस्ति च नास्ति च अव-

करके मैं सभी दर्शनों[१] के प्रतिपाद्य विषय का संक्षेप में निरूपण करता हूँ ॥ १ ॥

अर्थो निगद्यतेऽभिधीयत इति सम्बन्धः, अर्थशब्दोऽत्राभिधेयवाचको ग्राह्यः ।

'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु'[२]

इत्यनेकार्थवचनाद्, मयेत्यनुक्तस्यापि गतार्थत्वात्, किंविशिष्टोऽर्थः ? सर्वदर्शनवाच्य इति । सर्वाणि च तानि दर्शनानि बौद्धनैयायिकजैनवैशेषिकसांख्यजैमिनीयादीनि समस्तमतानि वक्ष्यमाणानि तेषु वाच्यः कथनीयः, किं कृत्वा ? जिनं नत्वा, सामान्यमुक्त्वा विशेषमाह—कं जिनं ? वीरं वर्द्धमानस्वामिनम्, वीरमिति साभिप्रायम्, प्रमाणवक्तव्यस्य परपक्षोच्छेदादिसुभटवृत्तित्वाद् भगवतश्च दुःखसम्पादिविषमोपसर्गसहिष्णुत्वेन सुभटरूपत्वात् ।

तथा चोक्तम्—

विदारणात्कर्मततेर्विराजनात्तपःश्रिया विक्रमतस्तथाऽद्भुतात् ।
भवत्प्रमोदः किल नाकिनायकश्चकार ते वीर इति स्फुटाभिधाम् ॥

इति युक्तियुक्तं ग्रन्थारम्भे वीरजिननमस्करणं प्रकरणकृतः, यद्वाऽऽसन्नोपकारित्वेन युक्ततरमेव श्रीवर्द्धमानतीर्थकृतो नमस्करणम्, तमेव विशिनष्टि—किं भूतं ? सद्दर्शनं सत् शोभमानं दर्शनं शासनं सामान्यावबोधलक्षणं ज्ञानं सम्यक्त्वं वा यस्य स तमिति ।

ननु दर्शनचारित्रयोरपि मुक्त्यङ्गत्वात् किमर्थं सद्दर्शनमित्येकमेव विशेषणमाविष्कृतम् ? न—दर्शनस्यैव प्राधान्याद् ।

यत्सूत्रम्—

'भठ्ठेण चरित्ताउ दंसणमिह दिढयरं गहेयव्वं ।
सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति' ॥
(भ्रष्टेन चरित्राद् दर्शनमिह दृढतरं ग्रहीतव्यम् ।
सिध्यन्ति चरणरहिता दर्शनरहिता न सिध्यन्ति ॥)

इति तद्विशेषणमेव युक्तम्, पुनः किं भूतं ? स्याद्वाददेशकम्, स्याद्विकल्पितो वादः स्याद्वादः सदसन्नित्यानित्याभिलाप्यानभिलाप्यसामान्यविशे-

---

क्तव्यम् । संख्या में सात होने से इनको 'सप्तभङ्गीनय' भी कहते हैं । किसी भी विषय का एक ही रूप में नहीं अपितु उक्त सातों प्रकारों में निरूपण अपेक्षित होने से इस वाद को 'अनेकान्तवाद' भी कहा जाता है । जैनियो के धर्म-क्षेत्र में 'स्यादवाद' प्रमाण-मीमांसा में 'सप्तभङ्गीनय' और अध्यात्म-क्षेत्र में 'अनेकान्तवाद' नामों से इसका व्यवहार होता है ।

१. 'सर्वदर्शन' का अभिप्राय यहाँ बौद्ध, न्याय, जैन, वैशेषिक, सांख्य, जैमिनीय (मीमांसा) तथा चार्वाक दर्शन है । इनका ही निरूपण इस ग्रन्थ में है । विभिन्न प्रकार के वेदान्त-सम्प्रदायों, शैवदर्शनों, व्याकरण-दर्शन आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं ।

२. अमरकोष ३।३।८७

षात्मकस्तं दिशति भावकेभ्य उपदिशति यस्तम्, अत्रादिमार्द्धे भगवतोऽतिशयचतुष्टयमाक्षिप्तम्, सद्दर्शनमिति दर्शनज्ञानयोः सहचारित्वाज्ज्ञानातिशयः, जिनं वीरमिति रागादिजेतृत्वादष्टकर्माद्यपायनिराकर्तृत्वाच्चापायापगमातिशयः, स्याद्वाददेशकमिति वचनातिशयः, ईदृग्विधस्य निरन्तरभक्तिभरनिर्भरसुरासुरनिकायनिषेव्यत्वमानुषङ्गिकमिति पूजाऽतिशयः ॥ १ ॥

कानि तानि दर्शनानीति ? व्यक्तितस्तत्सङ्ख्यामाह—

दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया ।
देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥ २ ॥

मौलिक भेदों के अनुसार यहाँ (सम्प्रदायों में मान्य) देवता तथा तत्त्वों के भेद से विद्वानो को दर्शन छह ही समझना चाहिये ॥ २ ॥

अत्र जगति प्रसिद्धानि षडेव दर्शनानि, एवशब्दोऽवधारणे, यद्यपि भेदप्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि ।

यदुक्तं सूत्रे—

'असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण हुंति चुलसीई ।
अन्नाणियं सत्तट्ठी वेणइआणं च वत्तीसं' ।
(अशीतिशतं क्रियाणामक्रियावादिनो भवन्ति चतुरशीतिः ।
आत्मवादिनः सप्तषष्टिर्विनयवादिनां च द्वात्रिंशद् ॥)

इति त्रिषष्ट्यधिका त्रिशती पाषण्डिकानाम्, बौद्धानां चाष्टादश निकायभेदाः, वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकादयो भेदाः, जैमिनेश्च शिष्यकृता बहवो भेदाः—

'उत्पलः[1] कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः ।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किंचिदपि रेवणः' ॥

अपरेऽपि बहूदककुटीचरहंसपरमहंसभाट्टप्राभाकरादयो बहवोऽन्तर्भेदाः ।

अपरेषामपि दर्शनानां तत्त्वदेवताप्रमाणादिभिन्नतया बहुभेदाः प्रादुर्भवन्ति; तथाऽपि परमार्थतस्तेषामेतेष्वेवान्तर्भावात्षडेवेति सावधारणं पदम् ।

ननु संघटमानानियतो भेदानुपेक्ष्य किमर्थं षडेव ? इत्याह—मूलभेदव्यपेक्षया, मूलभेदास्तावत्षडेव षट्संख्यास्तेषां व्यपेक्षया तानाश्रित्येत्यर्थः, तानि दर्शनानि मनीषिभिः पण्डितैर्ज्ञातव्यानि बोद्धव्यानि, केन प्रकारेणेति ? देवतातत्त्वभेदेन देवता दर्शनाधिष्ठायिकाः, तत्त्वानि च मोक्षसाधकानि रहस्यानि, तेषां भेदस्तेन पृथक् पृथग् दर्शनदेवता दर्शनतत्त्वानि च ज्ञेयानीत्यर्थः ॥ २ ॥

---

१. ओंवेकः (उम्बेकः) इति पाठान्तरम् ।

तेषामेव दर्शनानां नामान्याह—

बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा ।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ॥ ३ ॥

अहो ! बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय ये दर्शनों के नाम हैं[1] ॥३॥

अहो इति इष्टामन्त्रणे, दर्शनानां मतानाममूनि नामानीति संग्रहः, ज्ञेयानीति क्रियाऽस्तिभवत्यादिवदनुक्ताऽप्यवगन्तव्या । तत्र बौद्धमिति बुद्धो देवताऽस्येति बौद्धं सौगतदर्शनम्, नैयायिकं [2]पाशुपतदर्शनम्, तत्र न्यायः प्रमाणमार्गस्तस्मादनपेतं नैयायिकमिति [3]व्युत्पत्तिः, सांख्यमिति कापिल-दर्शनम् आदिपुरुषनिमित्तेयं संज्ञा, जैनमिति जिनो देवताऽस्येति जैनमार्हतम्, वैशेषिकं काणाददर्शनम् दर्शनदेवताऽऽदिसाम्येऽपि नैयायिकेभ्यो द्रव्यगुणा-दिसामग्र्या विशिष्टमिति[4] वैशेषिकम्, जैमिनीयं जैमिनिऋषिमतं भाट्ट-दर्शनम्, चः समुच्चयस्य दर्शकः, एवं तावत् षड्दर्शननामानि ज्ञेयानि शिष्येणेत्यवसेयम् ॥ ३ ॥

अथ द्वारश्लोके प्रथममुपन्यस्तत्वाद्बौद्धमतमेवादावाचष्टे—

[बौद्धमतम्]

तत्र बौद्धमते तावद्देवता सुगतः किल ।
चतुर्णामार्यसत्यानां[5] दुःखादीनां प्ररूपकः ॥ ४ ॥

---

१. द्वितीय कारिका में दर्शनों में अन्तर का आधार अधिष्ठाता देवता तथा प्रतिपाद्य तत्त्वों को कहा गया है, किन्तु यहाँ देवता के आधार पर बौद्ध और जैन ही निर्दिष्ट हैं। मणिभद्र की टीका में सांख्य को कापिल-दर्शन कह कर आदि-पुरुषनिमित्तक और जैमिनीय को भाट्टदर्शन कहा गया है। वस्तुतः भाट्ट दर्शन ही जैमिनीय नहीं है अपितु प्रभाकर, मुरारि आदि की शाखायें भी हैं। नैयायिकदर्शन यद्यपि पाशुपतदर्शन के नाम से प्रसिद्ध नहीं है, तथापि पाशुपत का अर्थ यहाँ पशुपति शिव को देवता मानने वाला लेना चाहिये, न कि नकुलीश-पाशुपत आदि। भासर्वज्ञ आदि साधना को महत्त्व देने वाले न्याय-दर्शन के आचार्यों ने शिव, महेश्वर या पशुपति को देवता माना है। 'वैशेषिक' नाम 'विशेष' नामक पदार्थ को मानने से पड़ा है, न कि न्यायदर्शन की अपेक्षा द्रव्य, गुण आदि का विशिष्ट निरूपण करने से।

२. असमञ्जसेयमुक्तिः—न्यायदर्शनस्य पाशुपतत्त्वेनाप्रसिद्धेः, पाशुपतदर्शनस्य न्यायप्रस्थानारूढत्वं प्रायेणेत्यन्यदेतद्। (गो०)

३. इदं चिन्त्यम्, इत्थं हि न्याय्यमिति स्याद्, 'नैयायिकेतिपदं तूक्थादिगणघटकन्याय-शब्दादध्येतृवेदितृत्र्यतरार्थकठका निष्पद्यते। (गो०)

४. आपातरुचिरेयमुक्तिः, वस्तुतस्तु परानुपज्ञस्य विशेषात्मकस्य पञ्चमपदार्थस्य वेत्तृत्वादित्थं ख्यातिः। (गो०)

५. आराद् दूराद् याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः। पृषोदरादित्वाद् रूपनिष्पत्तिः।

इनमें से बौद्धमत में दुःख आदि चार आर्यसत्यों[१] के निरूपण-कर्त्ता बुद्ध[२] ही देवता हैं ॥ ४ ॥

तत्र तस्मिन् बौद्धमते सौगतशासने, तावदिति प्रक्रमे सुगतो देवता बुद्धो देवता बुद्धभट्टारको दर्शनादिकरः । किलेत्याप्तप्रवादे । तमेव विशिनष्टि—कथंभूतस्तत्त्वनिरूपकत्वेन प्ररूपको दर्शकः कथयितेति यावत्, केषामित्याह—आर्यसत्यानाम्, आर्यसत्यनामधेयानां तत्त्वानाम्, कतिसंख्यानामिति ? चतुर्णां चतूरूपाणाम्, किंरूपाणाम् ? इत्याह—दुःखादीनां दुःखसमुदयमार्गनिरोधलक्षणानाम्, आदिशब्दोऽवयवार्थोऽत्र ।

यदुक्तम्—

'सामर्थ्येऽथ[३] व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा ।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी ह्यादिशब्दं तु लक्षयेद्' ॥

इति, एवंविधः सुगतो बौद्धमते देवता ज्ञेय इत्यर्थः ॥ ४ ॥

आदिममेव तत्त्वं विवृण्वन्नाह—

दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥५॥

(प्रतिक्षण) परिणामी स्कन्ध[४] दुःख हैं । ये (स्कन्ध) पाँच ही कहे गये हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ॥ ५ ॥

दुःखं किमुच्यते ? इत्याशङ्कायां संसारिणः स्कन्धाः, संसरन्तीति संसारिणो विस्तरणशीलाः स्कन्धाः प्रचयविशेषाः, संसारेऽमी चयापचयरूपा

सतां साधूनां पदार्थानां वा यथासंभवं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थितवस्तुरूपरूपचिन्तनेन च हितानि सत्यानि । अथवा सद्भ्यो हितानि सत्यानि, आर्याणां सत्यानि आर्यसत्यानि तेषामार्यसत्यानाम् । —गुणरत्न की टीका पृ. २४ ।

१. दुःख, दुःख-समुदय, दुःखमार्ग और दुःख-निरोध ये चार आर्य-सत्य हैं–आर्य गौतम के द्वारा अनुभूत एवं प्रचारित सत्य हैं । क्रमशः एक-एक का वर्णन किया जा रहा है ।

२. सुगत बुद्ध का ही पर्याय है ।

'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः । आदि । अमरकोष १।१। १३

३. 'सामीप्ये च' इति पाठान्तरम् ।

४. स्कन्ध का अर्थ 'समूह' भी होता है–'स्कन्धः समुदयेऽपि च'—अमरकोष ३।३।१०१ किन्तु यहाँ यह शब्द पारिभाषिक है जिसका अर्थ है 'विज्ञान आदि का समूह-विशेष' । बौद्धदर्शन में कहीं कहीं इसका प्रयोग 'आत्मा' के अर्थ में भी होता है ।

भवन्तीत्यर्थः, ते च स्कन्धाः पञ्च प्रकीर्तिताः पञ्चसंख्याः कथिताः, के ते ? इत्याह—

'विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव चे'ति ।

तत्र विज्ञानमिति विशिष्टं ज्ञानं सर्वक्षणिकत्वम् ॥ यदुक्तम्—

'यत् सत्तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे
सत्ताशक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा च सा ।
नाप्येकैव विधाऽन्यदाऽपि परकृन्नैव क्रिया वा भवेद्
द्वेधाऽपि क्षणभङ्गसंगतिरतः साध्ये च विश्राम्यति' ॥[1] इति

विज्ञानम्, वेदनेति । वेद्यत इति वेदना पूर्वभवपुण्यपापपरिणामबद्धाः सुखदुःखानुभवरूपाः । भिक्षुर्भिक्षामटंश्चरणकण्टके लग्ने प्राह—

इत एकनवतेः कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ! ॥[2]

इत्यादि । संज्ञेति संज्ञानामकोऽर्थः सर्वमिदं सांसारिकं सचेतनाचेतनस्वरूपव्यवहरणं संज्ञामात्रं नाममात्रम्, नात्र कलत्रपुत्रमित्रभ्रात्रादिसम्बन्धो घटपटादिपदार्थसार्थो वा पारमार्थिकः ।

तथा च तत्सूत्रम्—

'तानीमानि भिक्षवः संज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं कल्पनामात्रं संवृतिमात्रमतीतोऽध्वाऽनागतोऽध्वा सहेतुको विनाश आकाशं पुद्गला' इति । संस्कार इति । इह परभवविषयसंतानपदार्थनिरीक्षणप्रबुद्धपूर्वभावानुरूपसंस्कारस्य प्रमातुः स एवायं देवदत्तः सैवेयं दीपकलिकेत्याद्याकारेण ज्ञानोत्पत्तिः संस्कारः ।

यदाह—

[3]'यस्मिन्नेव हि सन्तान आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा' ॥ इति ॥

रूपमिति । रगरगायमाणपरमाणुप्रचयः, बौद्धमते हि स्थूलरूपस्य जगति विवर्तमानपदार्थजातस्य तद्दर्शनोपपत्तिभिर्निराक्रियमाणत्वात् परमाणव एव तात्त्विकाः, चः पुनरर्थः, एवेति पूरणार्थः ॥ ५ ॥

दुःखनामधेयमार्यसत्यं पञ्चभेदतया निरूप्यार्थसमुदायतत्त्वरूपमाह—

[4]समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ।

---

१. द्रष्टव्य-सर्वदर्शनसंग्रह-पृ. ५५, चौ० विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ ई०

२. वही पृ. १०१

३. वही पृ. १०६

४. वही पृ. १०२ में पाठ—

आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स संमतः[१] ॥६॥

जगत् में जिससे राग आदि का सम्पूर्ण समूह[२] उद्‌भूत होता है, वहीं 'मैं' 'मेरा' (आदि) स्वरूप वाला तत्त्व 'समुदय' नाम से मान्य है ॥ ६ ॥

यतो यस्माल्लोके रागादीनां रागद्वेषमोहानामखिलः समस्तो गणः समुदेत्युद्भवति, कीदृग् ? इत्याह—आत्मात्मीयस्वभावाख्यः, अयमात्माऽयञ्चात्मीयः, पदसमुदायोपचारादयं परोऽयञ्च परकीय इत्यादिभावो रागद्वेषनिबन्धनं, तदाख्यस्तन्मूलो रागादीनां गणः आत्मात्मीयरूपेण रागरूपः परकीयपरिणामेन द्वेषरूपो यतः समुदेति स समुदयः समुदयो नाम तत्त्वं सम्मतो बौद्धदर्शनेऽभिमत इति ॥ ६ ॥

अथ तृतीयचतुर्थतत्त्वे प्रपञ्चयन्नाह—

[३]क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना तु या[४] ।
स मार्ग इति[५] विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥७॥

'सभी ज्ञानधारायें क्षणस्थायी हैं', इस प्रकार की जो भावना है वही 'मार्ग'[६] है, ऐसा समझना चाहिये । 'निरोध' मोक्ष को कहा जाता है ॥ ७ ॥[७]

सर्वसंस्काराः क्षणिकाः, सर्वेषां विश्वत्रयविवरविवर्तमानानां घटपटस्तम्भाम्भोरुहादीनां द्वितीयादिक्षणेषु स एवायं स एवायमित्याद्युल्लेखेन ये

रागादीनां गणो यस्मात्समुदेति नृणां हृदि ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात् समुदयः पुनः ॥

१. उदाहृतः—इति पाठा० ।

२. राग, द्वेष और मोह यह तीन रागादिगण हैं । राग का स्वभाव 'मैं' और 'मेरा' तथा द्वेष का 'वह' और 'उसका' है, इसी प्रकार अन्यों को भी समझना चाहिये ।

३. सर्वदर्शन–संग्रह–पृ. १०२ पर पाठ—
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा ।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥

४. यका इति पाठा० ।
५. इदं–इति पाठा० ।

६. इसी को 'मध्यममार्ग', 'दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपद्', अष्टाङ्गमार्ग आदि भी कहते हैं । सम्यग् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि ये आठ मध्यममार्ग के अङ्ग हैं । प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में शील, समाधि और प्रज्ञा इन तीन का ही उल्लेख किया गया है ।

७. बौद्धदर्शन में मोक्ष या निरोध के लिये 'निर्वाण' पद का प्रयोग प्रायः होता है । उसका रूप है—
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
—सौन्दरनन्द १६।२८

संस्कारा ज्ञानसन्ताना उत्पद्यन्ते ते विचारगोचरगताः क्षणिकाः। यत्प्रमाणयन्ति। सर्वं सत् क्षणिकमक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति वादस्थलमप्यूह्यं क्षणिकत्वाविशेषकम् , विशेषोपपत्तिश्च समग्रं तावदौत्पत्तिकं पदार्थकदम्बकं घटपटादिकं मुद्गरादिसामग्रीसाकल्ये विनश्वरमाकलय्यते, तत्र योऽस्य प्रान्तावस्थायां विनाशस्वभावः स पदार्थोत्पत्तिसमये विद्यते न वा ? अथ विद्यते चेदापतितं तदुत्पत्तिसमयानन्तरमेव विनश्वरत्वम्, अथेदृश एव स्वभावो यत्कियन्तमपि कालं स्थित्वा विनष्टव्यम् , एवञ्चेन्मुद्गरादिसंनिधानेऽप्येष एव तस्य स्वभाव इति भूयोऽपि तावत्कालं स्थेयम् ।

एवं मुद्गरादिवातशतपातेऽपि न विनाशो,जातं कल्पान्तस्थायित्वं घटस्य, तथा च जगद्व्यवहारव्यवस्थालोपपातकपङ्किलतेत्यभ्युपेयमनिच्छताऽपि क्षणक्षयित्वं पदार्थानाम् ।

प्रयोगस्त्वेवम्—वस्तु उत्पत्तिसमयेऽपि विनश्वररूपं, विनश्वरस्वभावत्वाद्, यद्विनश्वरं तदुत्पत्तिसमयेऽपि तत्स्वरूपं यथाऽन्त्यक्षणवर्त्तिघटस्य स्वरूपं, विनश्वरस्वभावं च रूपरसादिकमुदयत एवारभ्येति स्वभावहेतुः ।

ननु यदि क्षणक्षयिणो भावाः, कथं तर्हि स एवायमिति वासनाज्ञानम् ? उच्यते—निरन्तरसदृशापरापरक्षणनिरीक्षणचैतन्योदयाद्, विद्याऽनुबन्धाच्च पूर्वक्षणप्रलयकाल एव दीपकलिकायामिव सैवेयं दीपकलिकेति संस्कारमुत्पाद्य तत्सदृशमपरक्षणान्तरमुदयते, तेन समानाकारज्ञानपरम्परापरिचयचिरतरपरिणामान्निरन्तरोदयाच्च पूर्वक्षणानामत्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यध्यवसायः प्रसभं प्रादुर्भवति, दृश्यते चावलूनपुनरुत्पन्नेषु नखकेशकलापादिषु स एवायमिति प्रतीतिः, तथेहापि किं न सम्भाव्यते सुजनेन, तस्मात्सिद्धं साधनमिदं 'यत्सत्तत् क्षणिकमि'ति युक्तियुक्तञ्च 'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासने'ति ।

प्रस्तुतार्थमाह—एवं या वासना स मार्गो नामार्यसत्यम् इह बौद्धमते विज्ञेयोऽवगन्तव्यः, तुशब्दः पाश्चात्त्यार्थसंग्रहः पूर्वसमुच्चयार्थे, चतुर्थमार्यसत्यमाह–निरोधः किम् ? इत्याशङ्कायां मोक्ष उच्यते, मोक्षोऽपवर्गः, सर्वक्षणिकत्वसर्वनैरात्म्यवासनारूपो निरोधो नामार्यसत्यमभिधीयत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ तत्त्वानि व्याख्याय तत्संलग्नान्येवायतनान्याह—

[1]पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।
धर्मायत[2]नमेतानि द्वादशायतनानि च ॥ ८ ॥

१. सर्वदर्शन सं० पृ० १०१ ।

२. धर्माः सुखदुःखादयस्तेषामायतनं गृहं शरीरमित्यर्थः । –गुणरत्नटीकायाम् पृ. ३१

पाँच (ज्ञान) इन्द्रियाँ, शब्द आदि (पाँच) विषय, चित्त और धर्मायतन-धर्मस्थल चैत्य आदि अथवा शरीर-बारह ये तथा (जाति, जरा, मरण, भव, उपादान. तृष्णा, वेदना, स्पर्श, नाम, रूप, विज्ञान, संस्कार ये) बारह आयतन (सभी क्षणिक हैं।)[1]

पञ्चसंख्यानीन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणि, शब्दाद्या विषयाः पञ्च शब्दरूपरसस्पर्शगन्धरूपाः पञ्च विषया इन्द्रियव्यापारा इत्यर्थः, मानसं चित्तं, धर्मायतनमिति धर्मप्रधानमायतनं चैत्यस्थानमिति, एतानि द्वादशसंख्यानि ज्ञातव्यानि न केवलमेतानि द्वादशायतनानि जाति-जरामरणभवोपादानतृष्णावेदनास्पर्शनामरूपविज्ञानसंस्कारा[2] अविद्यारूपाणि द्वादशायतनानि, चः समुच्चये, अमी सर्वेऽपि संस्काराः क्षणिकाः, शेषं तदेवेति ॥ ८ ॥

तत्त्वानि व्याख्यायाधुना प्रमाणमाह—

प्रमाणे द्वे च विज्ञेये तथा सौगतदर्शने ।
प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा यतः ॥ ९ ॥

बौद्धदर्शन में दो ही प्रमाण समझना चाहिये–१–प्रत्यक्ष २–अनुमान, क्योंकि निश्चित ज्ञान दो ही प्रकार का होता है ॥ ९ ॥

तथेति प्रस्तुतानुसन्धाने, सौगतदर्शने बौद्धमते, द्वे प्रमाणे विज्ञेये, चशब्दः पुनरर्थे, तदेवाह–प्रत्यक्षमनुमानं च, अक्षमक्षं प्रति गतं प्रत्यक्षमैन्द्रियिक-मित्यर्थः, अनुमीयत इत्यनुमानं लैङ्गिकमित्यर्थः, यतः सम्यग् ज्ञानं निश्चिता-वबोधो द्विधा द्विप्रकारः, सम्यग्ग्रहणं मिथ्याज्ञाननिराकरणार्थम् , प्रत्यक्षा-नुमानाभ्यामेवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

पृथक्पृथग्दर्शनापेक्षलक्षणसाङ्कर्यभीरु कीदृक् प्रत्यक्षमत्र ग्राह्यमित्या-शङ्कायामाह—

प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तं[3] तत्र बुध्यताम् ।
त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिज्ञानं त्वनुमानसंज्ञितम् ॥१०॥

इनमें (नाम, जाति आदि) कल्पनाओं से रहित अर्थात् निर्विकल्प एवं भ्रान्ति-हीन ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' समझना चाहिये । तीन रूपों वाले हेतु से साध्य का ज्ञान अनुमान कहा गया है ॥ १० ॥

---

१. यह अर्थ मणिभद्र की टीका के अनुसार है जिसमें पञ्चेन्द्रिय से धर्मायतन तक इन बारह के साथ 'जाति' आदि द्वादश-आयतनो का अलग से ग्रहण है । 'जाति-आदि' को न लेने पर अर्थ होगा–"पाँच (ज्ञान) इन्द्रियाँ···और धर्मायतन-धर्मस्थल चैत्यादि ये बारह आयतन" क्षणभङ्गुर हैं ।

२. षडायतनेति पदमधिकं क्वचित्पुस्तके ।

३. न्यायबिन्दु १. ३., प्रमाणवार्तिक ३.१२३ ।

तत्र प्रमाणोभय्यां प्रत्यक्षं बुद्ध्यतां ज्ञायतां शिष्येणेति। किंभूतं ? कल्पनाऽपोढं, शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना, तयाऽपोढं रहितं निर्विकल्पकमित्यर्थः, अन्यच्चाभ्रान्तं भ्रान्तिरहितं रगरगायमाणपरमाणुलक्षणं स्वलक्षणं हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमभ्रान्तञ्च तद्, घटपटादिबाह्यस्थूलपदार्थप्रतिबद्धं च ज्ञानं सविकल्पकम्, तच्च बाह्यस्थूलार्थानां तत्तन्मतानुमानोपपत्तिभिर्निराकरिष्यमाणत्वाद्, नीलाकारपरमाणुस्वरूपस्यैव तात्त्विकत्वात्।

ननु यदि बाह्यार्था न सन्ति, किंविषयस्तर्ह्ययं घटपटशकटादिबाह्यस्थूलप्रतिभास इति चेद् ?

निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितो व्यवहाराभासो निर्विषयत्वादाकाशकेशवत्स्वप्नज्ञानवद्वेति, यदुक्तं—

'नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते'॥ 'इति।
'बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते।
वासनोल्लुठितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते'॥ इति।
तदुक्तं-'निर्विकल्पकमभ्रान्तं च प्रत्यक्षमि'ति।

अनुमानलक्षणमाह—तु पुनः त्रिरूपात्पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपाल्लिङ्गतो धूमादेरुपलक्षणाद् यल्लिङ्गिनो वैश्वानरादेर्ज्ञानं तदनुमानसंज्ञितमनुमानप्रमाणमित्यर्थः। सूत्रे लक्षणं नान्वेषणीयमिति चरमपदस्य नवाक्षरत्वेऽपि न दोष इति।

रूपत्रयमेवाह—

रूपाणि पक्षधर्मत्वं सपक्षे विद्यमानता।
विपक्षे नास्तिता हेतोरेवं त्रीणि विभाव्यन्ताम्॥११॥

(पर्वत आदि) पक्ष में होना, (महानस आदि) सपक्ष में रहना तथा (जलाशय आदि) विपक्ष में न रहना हेतु के इस प्रकार के तीन रूप समझे जाने चाहिये॥ ११॥

हेतोरनुमानस्य त्रीणि रूपाणि विभाव्यन्तामिति सम्बन्धः, तत्र पक्षधर्मत्वमिति साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, यथा पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वादत्र पर्वतः पक्षः, तत्र धर्मो धूमवत्त्वं वह्निमत्त्वेन व्याप्तं धूमोऽग्निं न व्यभिचरतीत्यर्थः, सपक्षे सत्त्वं यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसप्रदेशः, अत्र धूमवत्त्वेन हेतुना सपक्षे महानसे सत्त्वं वह्निमत्त्वमस्तीत्यर्थः, विपक्षे नास्तितेति यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा जलाशये, जलाशये हि वह्निमत्त्वं व्यावर्तमानं व्याप्यं धूमवत्त्वमादाय व्यावर्तते, एवं प्रकारेण हेतोस्त्रीणि रूपाणि ज्ञायन्तामित्यर्थः॥ ११॥

१. द्रष्टव्य-सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. ७० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणी १९६४ ई.।

उपसंहरन्नाह—

बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
नैयायिकमतस्येतः कथ्यमानो निशम्यताम् ॥१२॥

बौद्ध मत के प्रतिपाद्य का यह सारांश उपस्थित किया गया । यहाँ से कहा जा रहा नैयायिकों के मत का (संक्षेप) सुनिये ॥ १२ ॥

अयं संक्षेपो निवेदितः कथितः निष्ठां नीतः, कस्य बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य बौद्धानां राद्धान्तः सिद्धान्तस्तत्र वाच्योऽभिधातव्योऽर्थस्तस्य ।

इतोऽनन्तरं नैयायिकमतस्य शिवशासनस्य 'कथ्यमानो निशम्यतां' संक्षेपः कथ्यमानः श्रूयतामित्यर्थः ॥ १२ ॥

तदेवाह—

[नैयायिकमतम्]

आक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः ।
विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः ॥ १३ ॥

न्याय-दर्शन में उत्पत्ति एवं विनाश के कर्ता, सर्वव्यापक, नित्य, अद्वितीय, सर्वज्ञ तथा शाश्वत बुद्धि के आधार शिव[1] (अधिष्ठाता) देव मान्य हैं ॥ १३ ॥[2]

---

१. इस दर्शन के अधिष्ठाता देवता शिव हैं । इसकी साधना-पद्धति द्वैतवादी शैवदर्शन की है, जिसे पाशुपतदर्शन कहा जाता है । प्राचीन न्याय ग्रन्थों में साधना पर भी विशेष बल दिया जाता था, किन्तु शनैः शनैः प्रमाण, हेत्वाभास आदि पर बल दिया जाने लगा जिससे दर्शन का यह सम्प्रदाय मात्र 'प्रमाणशास्त्र' रह गया और साधनापक्ष महत्त्वहीन सा हो गया । डॉ० सुरेन्द्रनाथदासगुप्त के शब्द द्रष्टव्य है—"Thus according to Rajshekhara the Naiyayikas were regarded as Saivas. It does not seem that Rajashekhara had made any definite study of the Nyaya system, but based his remarks on the tradition of the time." Hist. of Indian Phil. Vol. V p. 9, Cambridge, 1955.

२. गौतम न्यायदर्शन के सूत्रकार हैं । इनका नाम अक्षपाद भी है । इनके नाम के आधार पर ही इनसे प्रतिपादित दर्शन का नाम आक्षपाद-मत भी पड़ा । इनके अक्षपाद नाम पड़ने से सम्बद्ध दो किम्वदन्तियाँ हैं । कहा जाता है कि तत्त्वचिन्तन में लीन रहने के कारण इन्हें मार्ग का ध्यान न रहा और कुयें में गिर गये । विधाता ने इनको निकाला और पैरों में भी आँखे दे दीं । पाद में अक्षि होने से इनको 'अक्षपाद' कहा जाने लगा । दूसरी जनश्रुति यह है कि ब्रह्मसूत्रकार व्यास से यह अत्यन्त असन्तुष्ट थे और उनको देखना तक न चाहते थे । बाद में व्यास ने उनको जैसे-तैसे मनाया, किन्तु उन्होंने अपनी वास्तविक चक्षुओं से न देखकर उनको देखने के लिये पावों में आखें उत्पन्न कर लीं । दोनों ही किम्वदन्तियाँ हैं और यथार्थ से परे तथा कल्पना-मात्र प्रतीत होती हैं ।

आक्षपादा नैयायिकास्तेषां मते शासने देवो दर्शनाधिष्ठायकः शिवो महेश्वरः। स कथंभूतः ? सृष्टिसंहारकृत् सृष्टिः प्राणिनामुत्पत्तिः, संहारस्तद्विनाशः, सृष्टिश्च संहारश्चेति द्वन्द्वः; तौ करोतीति क्विपि तोऽन्तः, तथा हि–अस्य प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणचराचरस्वरूपस्य जगतः कश्चिदनिर्वचनीयमाहात्म्यः पुरुषः स्रष्टा ज्ञेयः, केवलसृष्टौ च निरन्तरोत्पद्यमानापारप्राणिगणस्य भुवनत्रयेऽप्यमातृत्वमिति संहारकर्ताऽपि कश्चिदभ्युपगन्तव्यः, यत्प्रमाणं-सर्वं धरणिधरणीधरतरुपुरप्राकारादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं, कार्यत्वात्, यद्यत् कार्यं तत्तद् बुद्धिमत्पूर्वकं, यथा घटः, कार्यं चेदं, तस्माद् बुद्धिमत्पूर्वकमिति प्रयोगः, स भगवानीश्वर एवेत्यर्थः, व्यतिरेके गगनं, न चायमसिद्धो हेतुः ? भूभूधरादीनां स्वकारणकलापजन्यत्वेनावयवितया वा कार्यत्वस्य जगत्प्रसिद्धत्वात्, नापि विरुद्धानैकान्तिकदोषौ विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वाद्, कालात्ययापदिष्टः प्रत्यक्षानुमानोपमानागमाबाध्यमानधर्मधर्मित्वाद्, नापि प्रकरणसमः, तत्परिपन्थिपदार्थस्वरूपसमर्थनप्रथितं प्रत्यनुमानोदयाभावाद्।

अथ निर्वृतात्मवदशरीरत्वादेव न संभवति सृष्टिसंहारकर्तेश्वर इति प्रत्यनुमानोदयात्कथं प्रकरणसमदूषणाभाव इति चेद् ?

उच्यते–अत्र साध्यमान ईश्वररूपो धर्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वाऽनुमन्यते सुहृदा ? अप्रतीतश्चे-द्भवत्परिकल्पितहेतोरेवाश्रयासिद्धिदोषप्रसङ्गः, प्रतीतश्चेत्तर्हि येनैव प्रमाणेन प्रतीतस्तेनैव स्वयमुद्भावितस्वतनुरपि किमर्थं नाभ्युपगम्यत इति कथमशरीरत्वमतो न दुष्टो हेतुरिति साधूक्तं सृष्टिसंहारकृच्छिवः, तथा विभुः सर्वव्यापकः, एकनियतस्थानवृत्तित्वे ह्यनियतप्रदेशनिष्ठितानां पदार्थानां प्रतिनियतयथावन्निर्माणानुपपत्तेः, न ह्येकस्थानस्थितः कुम्भकारोऽपि दूरदूरतरघटघटनायां व्याप्रियते, तस्माद्विभुर्भगवान्, तथा नित्यैकः नित्यश्चासावेकश्चेति, यतो नित्योऽत एवैकोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्, भगवतो ह्यनित्यत्वे पराधीनोत्पत्तिसव्यपेक्षतया कृतकत्वप्राप्तिः, स्वोत्पत्तावपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक इष्यत इति।

अथ चेत्कश्चिज्जगत्कर्तारमपरमभिदधाति स एवानुयुज्यते, सोऽपि नित्योऽनित्यो वा ? नित्यश्चेदधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम्, अनित्यश्चेत्तस्याप्यन्येनोत्पादकान्तरेण भाव्यमनित्यत्वादेव तस्याप्यन्येनेति नित्यानित्यवादविकल्पशिल्पशतस्वीकारे कल्पान्तेऽपि न जल्पसमाप्तिः, तस्मान्नित्य एव भगवान्, अन्यच्चैकोऽद्वितीयो, बहूनां हि जगत्कर्तृत्वस्वीकारे परस्परं पृथक् पृथगन्योन्यमसदृशमतिव्यापारतयैकैकपदार्थस्य विसदृशनिर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येतेति भगवानेक एवेति युक्तियुक्तं नित्यैकेति विशेषणम् तथा सर्वज्ञ इति सर्वपदार्थानां सर्वविशेषज्ञाता, सर्वज्ञत्वाभावे हि विधित्सितपदार्थोपयोगयोग्यजगत्प्रसृमरविप्रकीर्णपरमाणुकणप्रचयसम्यक्सामग्रीमेलनाक्षमतया याथा-

तथ्येन पदार्थनिर्माणरचना दुर्घटा, सर्वज्ञश्च सन् सकलप्राणिनां संमिलितसमुचितकारणकलापानुरूपपारिमाण्डल्यानुसारेण कार्यवस्तु निर्मिमाणः स्वार्जितपुण्यपापानुमानेन च स्वर्गनरकयोः सुखदुःखोपभोगं ददानः केषां नाभिमतः।

तथा चोक्तम्—

'ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः'॥ इति।

भूयोऽपि विशेषयन्नाह 'नित्यबुद्धिसमाश्रय' इति शाश्वतबुद्धिस्थानं, क्षणिकबुद्धिमतो हि पराधीनकार्यापेक्षितया मुख्यकर्तृत्वाभावादनीश्वरत्वप्रसक्तिरिति, ईदृग्गुणविशिष्टः शिवो नैयायिकमतेऽभ्युपगन्तव्यः॥ १३॥

अथ तत्त्वानि प्ररूपयन्नाह—

तत्त्वानि षोडशामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा।
प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम्॥ १४॥
दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवस्तर्कनिर्णयौ।
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च॥१५॥
जातयो निग्रहस्थानान्येषामेवं प्ररूपणा।
अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणं तच्चतुर्विधम्॥ १६॥

यहाँ प्रमाण आदि सोलह तत्त्व माने गये हैं। वे तत्त्व इस प्रकार हैं—(१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) संशय (४) प्रयोजन (५) दृष्टान्त (६) सिद्धान्त (७) अवयव (८) तर्क (९) निर्णय (१०) वाद (११) जल्प (१२) वितण्डा (१३) हेत्वाभास (१४) छल (१५) जाति और (१६) निग्रह-स्थान। इसी प्रकार इनका निरूपण अभीष्ट है। पदार्थ के ज्ञान का कारण प्रमाण है[1] वह चार प्रकार का है॥ १४–१६॥

त्रिभिर्विशेषकम्

अमुत्रास्मिन् प्रस्तुते नैयायिकमते षोडश तत्त्वानि प्रमाणादीनि प्रमाणप्रभृतीनि, तद्यथेति। बालावबोधाय नामान्यप्याह प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयस्सिद्धिरिति[2] षोडश, एषामेवं प्ररूपणेति,

१. यहाँ प्रमाण का बहुत सरल लक्षण दिया गया है। न्यायदर्शन के अन्य ग्रन्थों में सामान्यतः 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' लक्षण मिलता है और उस पर भी अधिक ऊहापोह हुआ है।

२. न्यायसूत्रं १. १. १।

तत्त्वानाममुना प्रकारेण प्ररूपणा नाममात्रप्रकटनमित्यर्थः, अथैकैकस्वरूपमाह्–तत्रादौ प्रमाणस्वरूपं प्रकटयन्नाह्-अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणं स्याद् । अर्थस्य पदार्थस्योपलब्धिर्ज्ञानं तस्य हेतुः कारणं प्रमाणं स्यादिति, परापरदर्शनापेक्षया प्रमाणानामनियतत्वात्संदिहानस्य सङ्ख्यामुपदिशन्नाह्–तच्चतुर्विधमिति । तत्प्रमाणं चतुर्विधं ज्ञेयमिति ॥ १४–१६ ॥

प्रत्यक्षमनुमानं चोपमानं शाब्दिकं तथा ।
तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारिकम्[२] ॥१७॥
व्यवसायात्मकं ज्ञानं व्यपदेशविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षमितरन्[३]मानन्तत्पूर्वं[४] त्रिविधं भवेत् ॥१८॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द । इन (चतुर्विध प्रमाणों) में इन्द्रियों (और उनके ग्राह्य) विषयों के संयोग से उत्पन्न, दूसरे प्रमाण से बाधित न होने वाला, व्यवहारों का साधक, विपर्यय से रहित ज्ञान[५] प्रत्यक्ष प्रमाण है । इससे भिन्न दूसरा प्रमाण–अनुमान–प्रत्यक्षपूर्वक[६] होता (है जो) तीन प्रकार का है ॥ १७–१८ ॥

अत्र प्रमाणचातुर्विध्ये प्रत्यक्षं कीदृगिति सम्बन्धः, विशेषणान्याह–इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति । इन्द्रियं चार्थश्चेति द्वन्द्वः, तयोः सन्निकर्षात्संयोगादुत्पन्नं जातम्, इन्द्रियं हि नैकस्यात्पदार्थं संयुज्यते, इन्द्रियार्थसंयोगाज् ज्ञानमुत्पद्यते ।

यदुक्तम्—

'आत्मा सहैति मनसा, मन इन्द्रियेण,
स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रम् ।
योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति
यस्मिन्मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥

---

१. सम्पर्का इति पाठा० । २. अव्यभिचारि च–इति पाठा० ।

३. प्रत्यक्षमनुमानं तु–इति पाठा० ।

४. तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च । न्याभसूत्र १. १. ५

५. न्यायदर्शन में किसी आचार्य ने 'इन्द्रिय' को प्रमाण माना है, किसी ने 'सन्निकर्ष' को और किसी ने (निर्विकल्पक) 'ज्ञान' को प्रमाण माना है । हरिभद्र जी ने अन्तिम मत की स्थापना की है, किन्तु उनके द्वारा दिये गये लक्षण के शब्दों से प्रतीत होता है कि वह सविकल्पक ज्ञान को ही प्रमाण मानने के पक्ष में हैं ।

६. अनुमान को प्रत्यक्ष से बाद का माना गया है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष पर आश्रित है । जब तक लिङ्ग और लिङ्गी तथा दोनों के नियत सम्बन्ध (व्याप्ति) का पहले प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तब तक किसी एक को देखकर दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता ।

तत्राऽव्यभिचारिकं ज्ञानान्तरेण नान्यथाभावि, शुक्तिशकले कलधौतबोधो हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नोऽपि व्यभिचारी दृष्टोऽतोऽव्यभिचारिकं ग्राह्यम्, तथा व्यवसायात्मकं व्यवहारसाधकम्, सजलधरणितले हि बहलशाद्वलवृक्षावल्यामिन्द्रियार्थसान्निध्योद्गतमपि जलज्ञानं तत्प्रदेशसंगमेऽपि स्नानपानादिव्यवहारासाधकत्वादप्रमाणम्, अतः सफलं व्यवसायात्मकमिति विशेषणम्।

तथा व्यपदेशविवर्जितमिति । व्यपदेशो विपर्ययस्तेन रहितं, तथा ह्याजन्मकाचकामलादिदोषदूषितचक्षुषः पुरुषस्य धवलशङ्खे पीतज्ञानमुदेति तद्यद्यपि सकलकालं तन्नेत्रदोषाविरामादिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमस्ति तथाऽप्यन्यवस्तुनोऽन्यथाबोधान्न तद्यथोक्तलक्षणं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षसाधकं विशेषणचतुष्टयमुक्तम्, साम्प्रतमनुमानमाह–इतरदन्यन्मानमनुमानमुपदिशति तदनुमानं पूर्वं प्रथमं त्रिविधं त्रिप्रकारकं भवेज्जायेत, पूर्वमितिपदेनानुमानान्तरभेदानन्त्यमाह–तत्पूर्वं प्रत्यक्षपूर्वं चेति श्लोकद्वयार्थः ॥ १७–१८ ॥

अनुमानत्रैविध्यमाह—

पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतस्तथा ।
तत्राद्यं कारणात्कार्यमनुमानमिह गीयते ॥ १९ ॥

पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतो दृष्ट । इन (तीनों प्रकारों) में प्रथम- पूर्ववत्-यहाँ उसे कहते हैं जिसमें कारण से कार्य का ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्टं, चेत्यनुमानत्रयम्, चः समुच्चये, एवेति पूरणार्थे, तथेति उपदर्शने, तत्र त्रिषु मध्ये, आद्यमनुमानमिह—शास्त्रे कारणात्कार्यमनुमानमुदितं कारणान्मेघात्कार्यं वृष्टिलक्षणं यतो ज्ञायते तत्कारणकार्यनामानुमानं कथितमित्यर्थः ॥

निदर्शनेन तमेवार्थं द्रढयन्नाह—

रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः ॥ २० ॥

भ्रमर, भैंस की सींग, हाथी अथवा सर्प, और तमालवृक्ष की भाँति काली छटा वाले इसी प्रकार के मेघ पृथ्वी पर पानी बरसाये विना नहीं रहते अर्थात् अवश्य वृष्टि करते हैं[1] ॥ २० ॥

यथेति दृष्टान्तकथनारम्भे, रोलम्बाः=भ्रमराः, गवलं माहिषं शृङ्गम्,[2] व्याला गजाः सर्पा वा, तमालाः=वृक्षविशेषाः, सर्वेऽप्यमी कृष्णाः पदार्थाः

---

१. इस श्लोक में पूर्ववत् का उदाहरण दिया गया है जिसमें कारणरूप मेघ को देखकर कोई व्यक्ति भविष्य में कार्यरूप वृष्टि की संभावना करता है, कि इस प्रकार के काले काले मेघों को देखने से ज्ञात होता है कि ऐसे बादल बिना बरसे नहीं जाते ।

२. 'गवला अरण्यजातमहिषाः, व्याला दुष्टगजा सर्पाश्च'—गुणरत्नटीका पृ. ६८ ।

स्वभावतो ज्ञेयाः, द्वन्द्वसमासो बहुव्रीहिश्च, एवंप्राया:=एवंविधाः पयोमुचो मेघा वृष्टिं न व्यभिचरन्तीति, एवंप्राया इत्युपलक्षणेन परेऽपि वृष्टिहेतवोऽभ्युन्नत्यादिविशेषा ज्ञेयाः।

यदुक्तम्—

'गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः।
तुङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः'

इत्यादयोऽपि वृष्टिं न व्यभिचरन्ति ॥ २० ॥

शेषवन्नामधेयं द्वितीयमनुमानभेदमाह—

कार्यात्कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम्।
तथाविधनदीपूरान्मेघो[1] वृष्टो यथोपरि ॥ २१ ॥

कार्य से कारण का जो अनुमान है, वह शेषवत् माना जाता है। जैसे उस प्रकार की नदी की बाढ़ से (पर्वत के) ऊपर मेघ बरसे हैं (यह जानना।) ॥ २१ ॥

यत्कार्यात्फलात्कारणानुमानं फलोत्पत्तिहेतुपदार्थावगमनं तच्छेषवदनुमानं मतं कथितं नैयायिकशासने, यथा तथाविधनदीपूरादुपरि मेघो वृष्टस्तथाविधप्रवहत्सलिलसम्भारभरितो यो नदीपूरः सरित्प्रवाहस्तस्मादुपरि शिखरिशिखरोपरि जलधराभिवर्षणज्ञानं तच्छेषवत्, अत्र कार्यं नदीपूरः कारणं च पर्वतोपरि मेघो वृष्ट इति।

उक्तं च नैयायिकैः—

'आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः।
कल्लोलविकटास्फालस्फुटफेनच्छटाऽङ्कितः॥
वहद्बहुलशैवालफलशाद्वलसंकुलः।
नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते न निवेदितुम्' ॥ इति ॥ २१ ॥

तृतीयानुमानमाह—

यच्च सामान्यतोदृष्टं तदेवं गतिपूर्विका।
पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सातथा ॥ २२ ॥

जो सामान्यतोदृष्ट अनुमान है, वह इस प्रकार है-जिस प्रकार पुरुष को दूसरे स्थान पर पहुँचना गमन-पूर्वक होता है, उसी प्रकार वह सूर्य का भी है[2] ॥ २२ ॥

---

१. देवो–इति पाठान्तरम्।

२. यहाँ सामान्यतोदृष्ट का लक्षण न देकर एक अस्पष्ट उदाहरण से काम चला लिया गया है। मणिभद्र ने टीका में भी लक्षण नहीं दिया है। वस्तुतः सामान्यतोदृष्ट से उन विषयों का अनुमान किया जाता है जिनके हेतु और साध्य तथा उनके सम्बन्ध या कारण और कार्य में से साध्य प्रत्यक्ष योग्य ही नहीं होता है। तत्सदृश अन्य उदा-

चः पुनरर्थे, यत् सामान्यतोदृष्टमनुमानं तदेवममुना प्रकारेण, यथा पुंसि पुरुषे देवदत्तादौ देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका, एकस्माद्देशाद्देशान्तरगमनं गमनपूर्वकमित्यर्थः, यथोज्जयिन्याः प्रस्थितो देवदत्तो माहिष्मतीं पुरीं प्राप्तः; सूर्येऽपि सा तथेति, यथा पुंसि तथा सूर्येऽपि सा गतिरभ्युपगम्यते । यद्यपि गगने संचरतः सूर्यस्य नेत्रावलोकप्रसरणाभावेन गतिर्नोपलभ्यते, तथाऽप्युदयाचलात् सायमस्ताचलचूलिकाऽवलम्बनं गतिं सूचयति ।

एवं सामान्यतोदृष्टमनुमानं ज्ञेयमित्यर्थः ॥ २२ ॥

अथ क्रमायातमपि शब्दप्रमाणं स्वल्पव्यक्तत्वादुपेक्ष्यादावुपमानलक्षणमाह—

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ॥ २३ ॥

सर्वजन-विख्यात वस्तु की समानधर्मता के अधार पर स्वल्पजन-ज्ञात वस्तु को जानना उपमान प्रमाण कहा गया है। (उदाहरणार्थ–) जैसा गौ होता है वैसा ही नीलगाय भी। ॥ २३ ॥

तदुच्यमानमुपमानमाख्यातं कथितं, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, यत्किम्? अप्रसिद्धस्य साधनम् अज्ञायमानस्यार्थस्य ज्ञापनं क्रियते । प्रसिद्धधर्मसाधर्म्यादिति । आबालगोपालाङ्गनाविदितो योऽसौ धर्मोऽसाधारणलक्षणं तस्य साधर्म्यं समानधर्मत्वं तस्मादित्युपमानमाख्यातम् । दृष्टान्तमाह–यथा गौर्गवयस्तथेति । यथा कश्चिदरण्यवासी नागरिकेण कीदृग्गवयः? इति पृष्टः स च परिचितगोगवयलक्षणो नागरिकं प्राह–यथा गौस्तथा गवयः, खुरककुदलांगूलसास्नाऽऽदिमान् यादृशो गौस्तथा जन्मसिद्धो गवयोऽपि ज्ञेय इत्यर्थः । अत्र प्रसिद्धो गौस्तत्साधर्म्यादप्रसिद्धस्य गवयस्य साधनमिति ॥२३॥

उपमानं व्यावर्ण्य शब्दप्रमाणमाह—

शाब्दमाप्तोपदेशस्तु मानमेवं चतुर्विधम् ।
प्रमेयं [1]त्वात्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि च ॥ २४ ॥

हरणों के आधार पर ही यहाँ भी ज्ञान कर लिया जाता है। जैसे सूर्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा हुआ तो देखा जाता है किन्तु उसको चलते हुए नहीं देखा जाता। इसके चलने का अनुमान इसी प्रमाण से होता है। जैसे कोई पुरुष एक स्थान से दूसरे स्थान पर तभी देखा जाता है जब वह चलता है इसी प्रकार सूर्य के चलने का ज्ञान इसलिये होता है क्योंकि प्रातः काल वह पूर्व में रहता है तो सायंकाल पश्चिम में।

१. चात्मदेहाद्यम्–इति पाठान्तरम् ।

सत्यवादी तथा हितैषी–(आप्त)–पुरुष का उपदेश शाब्द-प्रमाण है।[1] इस प्रकार चार प्रकार के प्रमाण (निरूपित किये गये)। आत्मा, देह, अर्थ, बुद्धि, इन्द्रिय, सुख आदि प्रमेय हैं ॥ २४ ॥

तु पुनराप्तोपदेशः शाब्दम्, अवितथवादी हितश्चाप्तः प्रत्ययितजनस्तस्य य उपदेश आदेशवाक्यं तच्छाब्दम् आगमप्रमाणं ज्ञेयमिति। एवमुक्तभङ्ग्या मानं प्रमाणं चतुर्विधं चतुष्प्रकारं निष्ठितमित्यर्थः।

अथ प्रमेयलक्षणमाह–'प्रमेयं त्वात्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि चेति'। प्रमाणग्राह्योऽर्थः प्रमेयं, तु पुनरर्थे, आत्मा च देहश्चेति द्वन्द्वः। आदिशब्देन शेषाणामपि षण्णां प्रमेयार्थानां संग्रहः। तच्च नैयायिकसूत्रे[2] आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदेन द्वादशविधं, तत्र सचेतनत्वकर्तृत्वसर्वगतत्वादिधर्मैरात्मा प्रमीयते, एवं देहादयोऽपि प्रमेयतया ज्ञेयाः, अत्र तु ग्रन्थविस्तारभयान्न प्रपञ्चिताः, इतरग्रन्थेभ्योऽपि सुज्ञेयत्वाच्चेति ॥ २४ ॥

संशयादिस्वरूपमाह—

किमेतदिति सन्दिग्धः प्रत्ययः संशयो मतः।
प्रवर्तते यदर्थित्वात्तत्तु साध्यं प्रयोजनम् ॥ २५ ॥

'यह क्या है?' इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान 'संशय' माना गया है। अभीष्ट होने से प्राणी जिसके प्रति प्रवृत्त होता है वह 'प्रयोजन' है। ॥ २५ ॥

दूरावलोकनेन पदार्थपरिच्छेदकधर्मेषु संशयानः प्राह–किमेतदिति। एतत्किं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ? यः संदिग्धः प्रत्ययः स संशयो नाम तत्त्वविशेषो मतः संमतः तच्छासन इति,

प्रयोजनमाह—तत्तु यत्पुनः प्रयोजनं नाम तत्त्वं तत्किमित्याह–अर्थित्वात्प्राणी साध्यं कार्यं प्रति प्रवर्तते, प्रतीत्यध्याहार्यम्, न हि निष्फलकार्यारम्भ इत्यर्थित्वादुक्तम्, एवं यत्प्रवर्तनं तत्प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २५ ॥

दृष्टान्तस्तु भवेदेष विवादविषयो न यः।
सिद्धान्तस्तु चतुर्भेदः सर्वतन्त्रादिभेदतः ॥ २६ ॥

---

१. न्यायदर्शन में वेद भी पौरुषेय हैं जो ईश्वर रूपी दिव्य-पुरुष द्वारा रचित हैं। ईश्वर अवितथवादी हैं और लोकहितैषी हैं। वह सर्वज्ञ तथा रागद्वेषादि से रहित होने के कारण आप्त हैं, अतः उनके वचन भी संशय आदि दोषों से रहित हैं। अन्य सत्यवादी पुरुषों के भी उपदेश प्रमाण होंगे, इसलिये गौतम आदि आचार्यों के भी वाक्य शाब्द प्रमाण हैं।

२. आत्म-शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः-प्रवृत्तिदोष-प्रेत्यभाव-फल–दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।
–न्या. सू. १. १. ९.

'दृष्टान्त' वह है जो विवाद का विषय न हो। और 'सिद्धान्त'[1] सर्वतन्त्र आदि भेद से चार प्रकार का है ॥ २६ ॥

तु पुनरेष दृष्टान्तो नाम तत्त्वं भवेत्, यत्किमिति ? विवादविषयो न, यस्मिन्नुपन्यस्ते वचने वादगोचरो न भवति, इदमित्थं भवति न वेति विवादो न भवतीत्यर्थः, तावच्चान्वयव्यतिरेकयुक्तोऽर्थः स्खलति यावन्न स्पष्टं दृष्टान्तोपष्टम्भः । उक्तं च—

तावदेव चलत्यर्थो मन्तुर्गोचरमागतः ।
यावन्नोत्तम्भनेनैव दृष्टान्तेनावलम्ब्यते ॥

एष दृष्टान्तो ज्ञेयः ।

सिद्धान्तः पुनश्चतुर्भेदो भवेत्, कथमित्याह-सर्वतन्त्रादिभेदत इति । सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति प्रथमो भेदः । आदिशब्दाद्भेदत्रयमिदं ज्ञेयम्, यथा प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति, अमी चत्वारः सिद्धान्तभेदाः, नाममात्रकथनमिदं, विस्तृतग्रन्थेभ्यस्तु विशेषो ज्ञेयः ॥ २६ ॥

अवयवादितत्त्वत्रयस्वरूपमाह—

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया निगमस्तथा ।
अवयवाः पञ्च तर्कः संशयोपरमो[2] भवेत् ॥२७॥
यथा काकादिसंपातात् स्थाणुना भाव्यमत्र हि ।
ऊर्ध्वं सन्देहतर्काभ्यां प्रत्ययो निर्णयो मतः ॥२८॥

प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन ये पाँच अवयव हैं ।[3] सन्देह की समाप्ति तर्क होगा । जैसे कौवे आदि के उतरने से यहाँ ठूंठ होना चाहिए । सन्देह और तर्क से भी उच्चकोटिके ज्ञान 'निर्णय' माना गया है[4] ॥ २७-२८ ॥

अवयवाः पञ्चेति सम्बन्धः, पूर्वार्द्धमाह-प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया निगमनं चेति पञ्चावयवाः,[5] तत्र प्रतिज्ञा-साध्यविशिष्टः पक्षः सानुमानयं कृशानुमानित्यादि, हेतुर्लिङ्गवचनम्, धूमवत्त्वादित्यादि, दृष्टान्त उदाहरणवचनं, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसप्रदेश इत्यादि, उपनयो हेतो-

---

१. यहाँ सिद्धान्त के भेदों का तो उल्लेख है, किन्तु लक्षण का प्रतिपादन नहीं है । सामान्यतः प्रामाणिक रूप में माना गया अर्थ सिद्धान्त है । 'प्रामाणिकत्वेन अभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः ।' तर्कभाषा पृ. २६६, साहित्य भण्डार, मेरठ ।

२. संदेहोपरमे-पाठान्तरम्

३. अनुमानवाक्यैकदेशा अवयवाः । तर्कभाषा पृ. २६७.

४. निर्णयोऽवधारणज्ञानम् । वही पृ. २७०

५. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः । न्या० सू० १. १. ३२.

रुपसंहारकं वचनं धूमवांश्चायमित्यादि, निगमनं हेत्वपदेशेन पुनः साध्य-धर्मोपसंहरणं, तस्माद्वह्निमानित्यादि, इति पञ्चावयवस्वरूपनिरूपणम् अवयव-तत्त्वं ज्ञेयमिति ।

तर्कः संशयोपरमो भवेद्, यथा काकेत्यादि, दूराद् दृग्गोचरे स्पष्टप्रति-भासाभावात् किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ? संशयस्तस्योपरमेऽभावे सति तर्को भवेत् तर्को नाम तत्त्वं स्यात्, कथमित्याह—यथेति । दूरादूर्ध्वस्थं पदार्थं विलोक्य स्थाणुपुरुषयोः संदिहानोऽवहितीभूय विमृशति, काकादिसंपातादा-दिशब्दाद्वल्युत्सर्पणादयः स्थाणुधर्मा ग्राह्याः, वायसप्रभृतिसम्बन्धादत्र स्थाणुना भाव्यं, कीलकेन भवितव्यम्, पुरुषे हि शिरःकम्पनहस्तचालनादिभिः काक-पातानुपपत्तेः, एवं संशयाभावे तर्कतत्त्वं ज्ञेयमिति ।

ऊर्ध्वमित्यादि पूर्वोक्तलक्षणाभ्यां संदेहतर्काभ्यामूर्ध्वमुत्तरं यः प्रत्ययः स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति प्रतीतिविषयः, स निर्णयः निर्णयनामा तत्त्व-विशेषो ज्ञेयः, यत्तदावर्थसम्बन्धादनुक्तावपि ज्ञेयौ ॥ २७-२८ ॥

वादतत्त्वमाह—

आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात् ।
यः कथाऽभ्यासहेतुः स्यादसौ वाद उदाहृतः ॥२९॥

पूर्व तथा उत्तर पक्ष का आश्रय लेकर गुरु और शिष्य का जो परस्पर सम्वाद के अभ्यास का कारण है, वह वाद कहा गया है ॥ २९ ॥

असौ वाद उदाहृतः कथितस्तज्ज्ञैरित्यर्थः, यः कः ? इत्याह—कथाऽभ्या-सहेतुः, कथा प्रामाणिकी तस्या अभ्यासः कारणम्, कयोराचार्यशिष्ययोः, आचार्यो गुरुरध्यापकः, शिष्यश्चाध्येता विज्ञेय इति, कस्मात् पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहात्, पक्षः पूर्वपक्षः प्रतिज्ञाऽऽदिपरिग्रहः, प्रतिपक्ष उत्तरपक्षः पूर्वपक्षवा-दिप्रयुक्तप्रतिज्ञाऽऽदिप्रतिपञ्चकोपन्यासप्रौढिः तयोः परिग्रहात्संग्रहादित्यर्थः, आचार्यः पूर्वपक्षमङ्गीकृत्याचष्टे, शिष्यश्चोत्तरपक्षमुररीकृत्य पूर्वपक्षं खण्डयति, एवं निग्राहकजयपराजयच्छलजात्यादिनिरपेक्षतयाऽभ्यासनिमित्तम्, पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहेण यत्र गुरुशिष्यौ गोष्ठीं कुरुतः स वादो ज्ञेयः ॥ २९ ॥

अथ तद्विशेषमाह—

विजिगीषुकथा या तु च्छलजात्यादिदूषणा ।
स जल्पः, सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षवर्जिता ॥३०॥

विजय के इच्छुकों का वह संवाद, जिसमें छल, जाति आदि से दोष दिखलाया जाये, जल्प है । वह वितण्डा है जो प्रतिपक्ष से विहीन है ॥ ३० ॥

स जल्प इति सम्बन्धः, यद् विजिगीषुकथायां विजयाभिलाषिवादिप्रति-वादिप्रारब्धप्रमाणोपन्यासगोष्ठ्यां सत्यां छलजात्यादिदूषणम्, छलं त्रिप्रकारम्

वाक्छलं, सामान्यच्छलम्, उपचारच्छलं चेति, जातयश्चतुर्विंशतिभेदाः, आदिशब्दान्निग्रहस्थानादिपरिग्रहः, एतैः कृत्वा दूषणं परोपन्यस्तपक्षादेर्दूषण-जालमुत्पाद्य निराकरणम्, अभिमतं च स्वपक्षस्थापनेन सन्मार्गप्रतिपत्तिनि-मित्ततया छलजात्याद्युपन्यासैः परप्रयोगस्य दूषणोत्पादनम्, तथा चोक्तम्—

'दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः' ॥ इति ॥

संकटे प्रस्तावे च सति च्छलादिभिरपि स्वपक्षस्थापनमनुमतम्, परविजये हि धर्मध्वंसादिदोषसंभवस्तस्माद्वरं छलादिभिरपि जयः ।

प्रतिपक्षस्तेन विवर्जितो रहित इति प्रतिपक्षसाधनविहीनो वितण्डावादः, वैतण्डिको हि स्वाभ्युपगतपक्षमस्थापयन् यत्किंचिद्वादेन परोक्तं दूषयतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

हेत्वाभासा असिद्धाद्याश्छलं कूपो नवोदकः ।
जातयो दूषणाभासाः पक्षादिर्दूष्यते न यैः ॥ ३१ ॥

असिद्ध आदि हेत्वाभास है ।[1] यह 'कूप नवोदक' है सदृश वाक्य छल हैं, और दूषणाभास अर्थात् जहाँ अदोष भी दोष की भांति प्रतीत हो वह जाति है, इनसे पक्ष आदि दूषित नहीं होता है ॥ ३१ ॥

हेत्वाभासा ज्ञेया इति । के ते ? इत्याह—असिद्धाद्या, असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः पञ्च हेत्वाभासा ज्ञेयाः । तत्र पक्षे धर्मत्वं यस्य नास्ति सोऽसिद्धः, विपक्षे सन् सपक्षे चासन् विरुद्धः, पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः, प्रत्यक्षानुमानागमविरुद्धपक्षवृत्तिः कालात्ययापदिष्टः, विशेषाग्रहणे हेतुत्वेन प्रयुज्यमानः प्रकरणसमः, उदाहरणानि स्वयमभ्यूह्यानि ।

छलं कूपो नवोदक इति, परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतार्थान्तरकल्पनया वचनविघातश्छलम्, कथमित्याह—वादिना कूपो नवोदक इति कथायां प्रत्यग्रार्थवाचकतया नवशब्दप्रयोगे छलवादी नवसंख्यामारोप्य दूषयति, कुत एक एव कूपो नवसंख्योदक इति वाक्छलम्, प्रस्तावागतत्वेन शेषच्छलद्वयमप्याह—संभावनयाऽतिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्य हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम्, यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति, तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुत्वमारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते, यदि ब्राह्मणे विद्याचरण-

१. उक्तानां पक्षधर्मत्वादिरूपाणां मध्ये येन केनापि रूपेण हीना अहेतवः । तेऽपि कतिपयहेतुरूपयोगाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः । तर्कभाषा पृ. २७२.

संपद्भवति, व्रात्येऽपि सा भवेद्, व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति। औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारच्छलं, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्तीति छलत्रयस्वरूपं ज्ञेयमिति।

जातय इत्यादि। दूषणाभासा जातयः, अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्त इति दूषणाभासाः, यैः पक्षादिर्न दूष्यते, आभासमात्रत्वान्न पक्षदोषः समुद्भावयितुं शक्यते, केवलं सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषत्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं प्रत्यवस्थानं जातिः, सा चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन।

तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः।

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं–यद्यनित्यघटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः तर्हि नित्याकाशसाधर्म्यादमूर्त्तत्वान्नित्यः स्यादिति।

वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः।

पूर्वस्मिन्नेव प्रयोगे वैधर्म्येणैवोक्ते वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं, नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वाद्, अनित्यं हि मूर्त्तं यथा घटादि।

यदि हि नित्याकाशवैधर्म्यात्कृतकत्त्वादनित्यः शब्दस्तर्हि घटाद्यनित्यवैधर्म्यादमूर्त्तत्वान्नित्यः स्याद्, विशेषाभावादिति।

उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः, तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कञ्चित् साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते, यदि घटवत्कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवेद्, न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दो धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति, अपकर्षस्तु–घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्ट एवं शब्दोऽपि भवेद्, नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षति।

वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती भवतः। ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यस्तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते, यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृग् घटधर्मो, यादृक् च घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति साध्यधर्मदृष्टान्तधर्मौ हि तुल्यौ कर्तव्यौ, अत्र तु विपर्यासः यतो यादृग्घटधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृक् शब्दधर्मः, घटस्य ह्यन्यादृशं कुम्भकारादिजन्यं कृतकत्वम्, शब्दस्य हि ताल्वोष्ठादिव्यापारजमिति।

धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः, यथा कृतकं किंचिन्मृदु दृष्टं राङ्कवशय्याऽऽदि, किञ्चित्कठोरं कुठारादि, एवं कृतकं किञ्चिदनित्यं भविष्यति घटादिकं, किञ्चिन्नित्यं शब्दादीति।

साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः, यथा घटः तथा शब्दः प्राप्तस्तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति, शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवेत्, ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तो, विरुद्धलक्षणत्वान्न दृष्टान्तः स्यात्, न चेदेवं तथाऽपि वैलक्षण्यात्सुतरामदृष्टान्त इति।

प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती, यथा यदे-तत्कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साध्यं साधयत्यप्राप्य वा, प्राप्य चेद् तर्हि द्वयोर्विद्यमानयोरेवप्राप्तिर्भवति न सदसतोरिति, द्वयोश्च सत्त्वात्किं कस्य साध्यं साधनं वा, अप्राप्य तु साधनमयुक्तमतिप्रसङ्गादिति।

प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह—यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं, कृतकत्वमिदानी किं साधनं तत्साधने किं साधनम्? इति।

प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह-यथा घटः प्रयत्नानन्तरीय-कोऽनित्यो दृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टं कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति, न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनं, भङ्ग्यन्त-रेणप्रत्यवस्थानात्।

अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानम् अनुत्पत्तिसमा जातिः, यथाऽनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क वर्तते, तदेव हेत्वभावादसिद्धिरनित्यस्येति।

साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिर्यथा पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोप-संह्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति, यथा किं घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः, किं वा तद्वैधर्म्येणाकाशसाम्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति।

द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति, तत्रैवानित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति, उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम्।

त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थापनमहेतुसमा जातिः, यथा हेतुः साधनं तत्साध्यात्पूर्वं पश्चाद्वा सह वा भवेद्, यदि पूर्वमसत् साध्यं तत्कस्य साधनम्, अथ पश्चात्साधनं पूर्वं तर्हि साध्यं तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन, अथ युग-पत्साध्यसाधने तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति।

अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानम् अर्थापत्तिसमा जातिः, यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृत-कत्वादनित्यः शब्दोऽर्थादापद्यते, नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति, अस्ति चास्य नित्येनाकाशेन साधर्म्यं निरवयवत्वमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति।

अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः, यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषः; तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति।

उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः, यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वं, निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति पक्षद्वयोपपत्त्याऽनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम्।

उपलब्धेन प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनं, साधनं तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते, उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनाऽपि विद्युदादावनित्यत्वं, शब्देऽपि क्वचिद् वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथेति।

अनुपलब्धिप्रत्यवस्थानादनुपलब्धिसमा जातिः, यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते, स प्राह जातिवादी न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासावावरणयोगात्तु नोपलभ्यते, आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येव शब्द इति चेद् ?

न, आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भसद्भावादावरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावः, तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति, ततश्च तदन्तरितमूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणमिति प्रयत्नकार्याभावान्नित्यः शब्द इति।

साध्यधर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यताऽऽपादनं नित्यसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते, जातिवादी विकल्पयति—येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति, यद्यनित्या तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अभावान्नित्यः शब्दः, अथ नित्यैवेति तथाऽपि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रितस्यानुपपत्तेः तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्य एव स इति चेद् ?

न, तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथा नित्यः शब्द इति।

एवं सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः, यथा घटसाधर्म्यमनित्यत्वेन शब्दस्यास्तीति, तस्या नित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते तद्घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्वं स्याद्, अथ पदार्थान्तराणां तथा भावेऽपि नानित्यत्वं तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदित्यनित्यत्वमात्रापादनपूर्वकविशेषोद्भावनाच्चाविशेषसमातो भिन्नेयं जातिः।

प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः। यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह—प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टं किंचिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादिकं, किंचित्सदेवावरणव्युदासादिना व्यज्यते यथा मृदन्तरितमूलकीलादि।

एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेषु प्रयत्नेन शब्दो व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति संशयापादानप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिर्भिद्यते ।

तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्ये संकीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिजातिभेदा एते दर्शिता इति ॥ ३१ ॥

दूषणाभासानुक्त्वा निग्रहस्थानमाह—

निग्रहस्थानमाख्यातं परो येन निगृह्यते ।
प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवत्[1] ॥ ३२ ॥

निग्रहस्थान वह कहा गया है जिससे प्रतिपक्षी पकड़ा जाता है । प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासंन्यास, प्रतिज्ञाविरोध आदि भेदों से यह युक्त होता है ॥ ३२ ॥

येन केनचिद् रूपेण परो विपक्षो निगृह्यते परवादी वचननिग्रहे पात्यते तन्निग्रहस्थानमाख्यातं कथितमिति, कतिचिद्भेदान् नामतो निर्दिशन्नाह-प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवद्, हानिसंन्यासविरोधाः प्रतिज्ञाशब्देन सम्बध्यन्ते, आदिशब्देन शेषानपि भेदान् परामृशति, एतद्दूषणजालमुत्पाद्यते येन तन्निग्रहस्थानम् ।

यदुक्तं-'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्' तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः, दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति, अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं, दूषणस्य चानुद्धरणम् , तद्धि निग्रहस्थानं द्वाविंशतिभेदम् , तद्यथा—[1]प्रतिज्ञाहानिः, [2]प्रतिज्ञाऽन्तरं, [3]प्रतिज्ञाविरोधः, [4]प्रतिज्ञासंन्यासः, [5]हेत्वन्तरम्, [6]अर्थान्तरं, [7]निरर्थकम् , [8]अविज्ञातार्थम्, [9]अपार्थकम् , [10]अप्राप्तकालं, [11]न्यूनम् , [12]अधिकं , [13]पुनरुक्तम् , [14]अननुभाषणम् , [15]अज्ञानम् , [16]अप्रतिभा, [17]विक्षेपो [18]मतानुज्ञा , [19]पर्यनुयोज्योपेक्षणं, [20]निरनुयोज्यानुयोगः, [21]अपसिद्धान्तः, [22]हेत्वाभासः ।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगतवतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानं भवति, यथा अनित्यः शब्द, ऐन्द्रियिकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादो वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियिकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते, यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवद्घटोऽपि नित्यो भवति स एवं ब्रुवाणः शब्दनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् ।

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरसाधनमभिदधतः प्रतिज्ञाऽन्तरनाम निग्रहस्थानं भवति, अनित्यः शब्द, ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनैव व्यभिचारेणोदिते यदि ब्रूयाद् युक्तं सामान्यमैन्द्रियिकं नित्यं तद्धि सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति, सोऽयमनित्यः शब्द इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञाऽन्तरमसर्वगतः शब्द इति प्रतिज्ञाऽन्तरेण निगृहीतो भवति ।

---

१. विभेदतः—इति पाठा०

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधनाम निग्रहस्थानं भवति, गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधो यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति तदयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरुद्धाभिधानात्पराजीयते।

पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणासक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नवानस्य प्रतिसंन्यासनाम निग्रहस्थानं भवति, यथा—अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात् क एवमाह नित्यः शब्द इति प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति।

अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरनाम निग्रहस्थानं भवति, तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्येऽस्य व्यभिचारेण दूषितजातिमत्त्वे सतीत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति।

प्रकृतादर्थान्तरं तदौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरनाम निग्रहस्थानं भवति, नित्यः शब्दः कृतकत्वादिति हेतुः, हेतुर्हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्, पदं च नाम तद्धितनिपातोपसर्गा इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणोऽर्थान्तरेण निगृह्यत इति।

अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकनाम निग्रहस्थानं भवति, यथा नित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्त्वाद् घझढधभवदित्येतदपि सर्वथाऽर्थशून्यत्वान्निग्रहणाय कल्पेत साध्यानुपयोगाद्वा।

यत्साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिवारमभिहितमपि पर्षत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते तदाऽविज्ञातार्थनाम निग्रहस्थानं भवति।

पूर्वापरासंगतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकनाम निग्रहस्थानं भवति, दश दाडिमानि षडपूपा इति।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लङ्घ्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालनाम निग्रहस्थानं भवति, स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमानक्रमस्यापगमात्, पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदेकतमेनानुमानावयवेन हीनं न्यूननाम निग्रहस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात् प्रतिज्ञाऽऽदीनां पञ्चानामपि साधनत्वात्।

एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकनाम निग्रहस्थानं भवति।

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तनाम निग्रहस्थानं भवति, अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते, यथा—नित्यः शब्दो नित्यः शब्द इति, अर्थपुनरुक्तं तु यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोच्चार्यते पुनः

पर्यायान्तरेणोच्यते यथा अनित्यः शब्दो, विनाशी ध्वनिरिति, अनुवादे तु पौनरुक्त्यमदोषः यथा हेतूपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति ।

पर्षदावेदितस्य वादिभिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणनाम निग्रहस्थाणं भवति ।

पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञाननाम निग्रहस्थानं भवति, अविदितोत्तरविषयो हि किमुत्तरं ब्रूयात्, न चाननुभाषणमेवेदं, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् ।

परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभानाम निग्रहस्थानं भवति ।

कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपनाम निग्रहस्थानं भवति, सिषाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिनत्तीदं मम करणीयं परिहीयते, पीनसेन कण्ठ उपरुद्ध इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते ।

स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीतिमापादयतो मतानुज्ञानाम निग्रहस्थानं भवति, चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते, भवानपि चौरः पुरुषत्वादिति ब्रुवन्नात्मनः परापादितचौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते ।

निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणनाम निग्रहस्थानं भवति, पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्याऽवश्यं नोदनीयः, 'इदन्ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसि' इत्येवं वचनीयस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते ।

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगान्निरनुयोज्यानुयोगनाम निग्रहस्थानं भवति, उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि 'निगृहीतोऽसी'ति यो ब्रूयात्स एवाभूतदोषोद्भावनान्निगृह्यत इति ।

सिद्धान्तमभ्युपेत्य नियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तनाम निग्रहस्थानम्, यः प्रथमं कञ्चित्सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपाक्रमत, तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनाय परोपालम्भो यथा सिद्धान्तविरुद्धमभिवत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते ।

हेत्वाभासाश्च यथोक्ता असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम् इति, भेदान्तरानन्त्येऽपि निग्रहस्थानानां द्वाविंशतिर्मूलभेदा निवेदिता इति ॥

अथोपसंहरन्नाह—

नैयायिकमतस्यैवं[1] समासः कथितोऽधुना[2] ।

---

१. यैष—इति पाठा० । २. ऽञ्जसा—पाठा० ।

[सांख्यमतम्]

सांख्याभिमतभावानामिदानीमयमुच्यते ॥ ३३ ॥

इस समय नैयायिकों के मत का इस प्रकार संक्षिप्त कथन किया गया। अब सांख्य में अभिमत विषयों का (संक्षिप्त) कथन किया जा रहा है ॥ ३३ ॥

एवम् इत्थंप्रकारतया नैयायिकमतस्य शिवशासनस्य समासः संक्षेपोऽधुना कथितो निवेदितः साम्प्रतमेव निष्ठित इत्यर्थः।

इदानीं पुनरयं समासः सांख्याभिमतभावानाम् उच्यते, सांख्याः कापिला इत्यर्थः, तदभिमता तदभीष्टा ये भावाः पञ्चविंशतितत्त्वादयस्तेषां संक्षेपोऽतः परं कथ्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

दर्शनस्वरूपमाह—

सांख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ॥ ३४ ॥

कुछ सांख्याचार्य ईश्वर को नहीं मानते, और कुछ शिव को अधिष्ठाता देवता मानते हैं। उन सभी के मत में तत्त्वों की संख्या पच्चीस ही है[1] ॥ ३४ ॥

केचित्सांख्या निरीश्वरा ईश्वरं देवतया न मन्यन्ते केवलाध्यात्मवेदिनः, केचित्पुनरीश्वरदेवता महेश्वरं स्वशासनाधिष्ठातारमाहुः, सर्वेषामिति। तेषां केवलनित्यात्मवादिनामीश्वरदेवतानां च सर्वेषां सांख्यमतानुसारिणां शासने तत्त्वानां पञ्चविंशतिः स्यात्, तत्त्वं ह्यपवर्गसाधकं बीजमिति सर्ववादिसंवादः।

---

१. ग्रन्थकार यहाँ सांख्याचार्यों के दो सम्प्रदायों का ही निरूपण न कर यह भी सिद्ध करते हैं कि ईश्वरवादी आचार्य शैव थे। यद्यपि नैयायिकों को मान्य जगत् के कर्त्ता आदि ईश्वर की आवश्यकता सृष्टिविलास हेतु सांख्य में नहीं, निरीश्वर और सेश्वर दोनों का काम पचीस तत्त्वों से ही चल जाता है, सेश्वरों को छब्बीसवां तत्त्व ईश्वर नहीं मानना पड़ता, तथापि ये ईश्वर को मानते हैं। पचीस तत्त्वों के साथ योगदर्शन को 'क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः' (यो. सू. १।२४) मान्य है, किन्तु अतिरिक्त छब्बीसवें तत्त्व के रूप में नहीं। पुराणों का सांख्य सेश्वर हैं। और भी द्रष्टव्य-शिवपुराण-कैलाससंहिता। डॉ० दासगुप्त के वचन द्रष्टव्य है—

"...Since all living beings are constituted of a male & a female part, the original cause must also be represented by a male and a female principle united. As a matter of fact, the Samkhyas had taken that idea from this statement, and had regarded the original cause as being Prakriti & Purusha. But they tried to establish it merely on rational grounds; they were not disposed to establish it in a theistic sense. For that reason, though some of the Samkhya categories may be accepted, yet the Samkhya philosophy as a

यदुक्तम्—

¹पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः ।
तन्मते पञ्चविंशतिस्तत्त्वानीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

गुणत्रयमाह—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद् गुणत्रयम् ।
²प्रसादतोषदैन्यादिकार्यलिङ्गं क्रमेण तत् ॥ ३८ ॥

इसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण समझे जाने चाहिए । प्रसन्नता, तुष्टि,³ दीनता आदि कार्य उनके (सत्व, रजस् और तमस् के) क्रमशः ज्ञापक हेतु हैं ॥ ३६॥

तावदिति प्रक्रमे, सत्त्वरजस्तमश्चेति गुणत्रयं ज्ञेयम् , तद् गुणत्रयं, क्रमेण परिपाट्या, प्रसादतोषदैन्यादिकार्यलिङ्गं गुणत्रयेणेदं लिङ्गत्रयं क्रमेण जन्यते, सत्त्वगुणेन प्रसादकार्यं लिङ्गं,—वदननयनादिप्रसन्नता सत्त्वगुणेन स्यादित्यर्थः, रजोगुणेन तोषः स चानन्दपर्यायः, तल्लिङ्गानि स्फूर्त्यादीनि रजोगुणेनाभिव्यज्यन्त इत्यर्थः, तमोगुणेन च दैन्यं जन्यते, हा दैव ! नष्टोऽस्मि वञ्चितोऽस्मीत्यादिवदनविच्छायतानेत्रसंकोचादिव्यङ्ग्यं दैन्यं तमोगुणलिङ्गमिति, दैन्यादीत्यादिशब्देन दुःखत्रयमाक्षिप्यते, तद्यथाऽऽध्यात्मिकम् , आधिभौतिकम् , आधिदैविकं चेति ।

---

whole, being purely rationalistic system, out to be abondoned... The Brahman is regarded in the Vedas as being the unity of Sat, Cit & Ananda, and it is in the neuter gender. The 'being' represented in Brahman means that all negation of being is excluded. The neuter character of 'the being' represents the fact that it is the Purusha, & this Purusha also is of an illuminating nature. The pure consciousnes in the unity of Sat, Cit. Ananda represents the female part, so the two parts that are regarded as male & female are the illuminating part and the pure consciousness, and these two together are the generating causes of the world. So in the unity of Sat, Cit. Anand we have the unity of Siva & Shakti." Hist. Ind. Phil. pp. 99–100. Vol. V Cambridge. 1945.

१. सांख्यकारिका ॥ १ ॥ के गौडपादभाष्य में उद्धृत ।

२. ताप—पाठान्तरम् । अयमेव साधु पाठः ।

३. यहाँ तोष को रजोगुण का कार्य कहा गया है । आनन्द और तोष प्रायः समानार्थक समझे जाते हैं । सांख्यकारिका में रजोगुण को 'उपष्टम्भकः 'चल' और 'अप्रीत्यात्मक' कहा गया है । (द्रष्टव्य-सां० का० १२-१३ ।) गुणों का अनुमान उनके कार्यो सुख, दुःख और मोह से होता हैं ।

तत्राध्यात्मिकं द्विविधं-शारीरं मानसं च, शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्, मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनं, सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्।

बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा-आधिभौतिकम् आधिदैविकं चेति, तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्, आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकमिति ॥ ३५ ॥

तदेवाह—

एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते ।
प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या नित्यस्वरूपिका ॥३६॥

इनके मत में (तीनों गुणों की) जो साम्यावस्था हैं वही प्रकृति कही जाती है। नित्यस्वरूप वाली वह प्रधान और अव्यक्त इन दो शब्दों से भी कही जा सकती है ॥३६॥

एतेषां सांख्यानां प्रकृतिः प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणां सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि गुणानां या साम्यावस्था समतयाऽवस्थितिः सा किल प्रकृतिरुच्यते, किलेत्याप्तप्रवादे, सा प्रकृतिः कथ्यते, अन्यच्च सा प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या प्रधानाव्यक्तशब्देन च प्रकृतिराख्यायते, शास्त्रे प्रकृतिः प्रधानमव्यक्तं चेति पर्याया न तत्त्वान्तरमित्यर्थः, तथा नित्यस्वरूपिका शाश्वतभावतया प्रसिद्धेत्यर्थः, उच्यते च नित्या नानापुरुषाश्रया च तद्दर्शनेन प्रकृतिर्यदाह—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिरिति ॥ ३६ ॥[1]

अनेन दुःखत्रयेणाभिहतस्य प्राणिनस्तत्त्वजिज्ञासोत्पद्यतेऽतस्तान्येव तत्त्वान्याह—

ततः संजायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते ।
अहंकारस्ततोऽपि स्यात्तस्मात्षोडशको गणः ॥३७॥

उससे बुद्धि (नाम का तत्त्व) उत्पन्न होता हैं। यका अर्थात् बुद्धि को ही 'महान' कहा जाता है। उस बुद्धि से भी अहङ्कार और उससे भी सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है[2] ॥ ३७ ॥

---

१. ईश्वरकृष्णः सांख्यकारिका ॥ ६२ ॥

२. 'यका' बुद्धि का एक नया पर्याय है, जो बहुशः परिचित नहीं है। अहङ्कार से उत्पन्न होने वाले सोलह तत्त्वों का समूह है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ + पाँच कर्मेन्द्रियाँ + उभयात्मकमन + पञ्च तन्मात्रायें=१६.

ततो गुणत्रयाद् बुद्धिः संजायते यका बुद्धिर्महानित्युच्यते महानितिशब्देन कीर्त्यत इत्यर्थः, एवमेतन्नान्यथा, गौरयं नाश्वः, स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येवं निश्चयस्तेन पदार्थप्रतिपत्तिहेतुर्योऽध्यवसायः[१] सा बुद्धिरिति, तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि तद्दर्शनविश्रुतानि, यदाह–धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि, अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानीत्यष्टौ, ततो बुद्धेरहंकारः स चाभिमानात्मको यथा 'अहं शब्दे, अहं रूपे, अहं रसे, अहं स्पर्शे, अहं गन्धे, अहं स्वामी, अहम् ईश्वरः, असौ मया हतः, अहं त्वां हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपस्तस्मादहंकारात्पोडशको गणो 'जायत' इत्यध्याहारोऽस्तिभवतीत्यादिवत्, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च भूतानि, षोडशको गणः, तथाऽऽह ईश्वरकृष्णः—

[२]मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष' इति ॥ ३७ ॥

षोडशकगणमेवाह—

(युग्मम्)

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
पञ्च [३]बुद्धीन्द्रियाण्याहुस्तथा कर्मेन्द्रियाणि च ॥३८॥
पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि मनस्तथा ।
अन्यानि पञ्चरूपाणि तन्मात्राणीति षोडश ॥३९॥

त्वक्, रसना, घ्राण, चक्षु तथा पाँचवा श्रोत, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कही गयी हैं। उतनी ही कर्मेन्द्रियाँ हैं–गुदा, मूत्रेन्द्रिय, वाक्, पाणि और पाद । मन भी (इन्द्रिय है ।) अन्य हैं पाँच रूपों वाली तन्मात्रायें, इस प्रकार सब सोलह हैं ॥ ३८–३९ ॥

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणीति सम्बन्धः, स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं, रसनं जिह्वा, घ्राणं नासिका, चक्षुर्नेत्रं, पञ्चमं श्रोत्रं कर्ण इति, एतानि पञ्च बुद्धिप्रधानानि बुद्धिसहचराण्येव ज्ञानं जनयन्तीति कृत्वा बुद्धीन्द्रियाण्याहुः कथयन्ति तन्मतीया इति, तथा कर्मेन्द्रियाणि चेति । तथा पूर्वोद्दिष्टपञ्चसंख्यामात्रपि परामृशति, तान्येवाह—पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानीति । पायुरपानम्, उपस्थः प्रजननं, वचो वाक्यं, पाणिर्हस्तः पादश्चरणः, तदाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, कर्म

---

१. अत्र क्रमेण प्रतीतिपञ्चकाकारस्थाने; अहं शृणोमि, अहं रूपयामि, अहं रसयामि, अहं स्पृशामि, अहं जिघ्रामि, इत्येवाकारपञ्चकं ज्याय इति भाति, मूले निर्दिष्टाकारकप्रतीतीनामननुभविकत्वाद्, ग्रन्थोक्तलेखानुपूर्वीभङ्गभिया तु मूलस्थपाठो न पराऽर्वार्ति ।(गो०)

२. सांख्यकारिका ॥ ३ ॥ ३. द्रियाण्यत्र–इति पाठा०

कार्यव्यापारस्तस्य साधनानीन्द्रियाणीति कर्मेन्द्रियाणि, तथा मन एकादशमिन्द्रियमित्यर्थः, पञ्चरूपाणि तन्मात्राणि चेति, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यानि तन्मात्राणीति षोडश ज्ञेयाः ॥

पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतोत्पत्तिमाह—

रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद् भूमिः स्वरान्नभः ।
स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम् ॥४०॥

रूप से तेज, रस से जल, गन्ध से पृथ्वी, स्वर (अर्थात् शब्द) से आकाश और स्पर्श से वायु, इस प्रकार पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूत उत्पन्न हुये ॥ ४० ॥

पञ्चभ्य इति । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतकमिति सम्बन्धः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्राद् भूमिः, स्वरतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, एवं पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्युत्पद्यन्ते, असाधारणैकैकगुणकथनमिदम्, उत्पत्तिश्च शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणं शब्दो ह्यम्बरगुण इति, शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुण इति, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणमिति, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणा इति, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इति, पञ्चभ्यः पञ्चभूतकमित्यर्थः ॥ ४० ॥

प्रकृतिविस्तरमेवोपसंहरन्नाह—

एवं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं सांख्यमते प्रधानम् ।
अन्यस्त्वकर्ता विगुणस्तु भोक्ता तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः ॥

इस प्रकार सांख्यमत में चौवीस तत्त्वों के रूपवाली प्रकृति का निरूपण हुआ। इससे भिन्न तत्त्व पुरुष तो अकर्त्ता, गुणरहित, द्रष्टा, नित्य और चेतन है ॥ ४१ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सांख्यमते चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानं निवेदितम्, प्रकृतिर्महानहङ्कारश्चेति त्रयम्, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनस्त्वेकं, पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च भूतानि रूपं यस्येत्येवंविधा प्रकृतिः कथितेत्यर्थः, पञ्चविंशतितमं तत्त्वमाह—अन्यस्त्विति । अन्योऽकर्ता पुरुषः, प्रकृतेरेव संसरणादिधर्मत्वाद्, यदुक्तं-प्रकृतिः करोति प्रकृतिर्बध्यते, प्रकृतिर्मुच्यते, पुरुषोऽबद्धः पुरुषो मुक्तः, पुरुषस्तु—

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने ॥

पुरुषगुणानाह—विगुण इति । सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयविकलः, तथा भोक्ता भोगी, एवंप्रकारः पुमान् तत्त्वं पञ्चविंशतितमं तत्त्वमित्यर्थः, तथा

नित्यचिदभ्युपेतः, नित्या चासौ चिच्चैतन्यशक्तिस्तयाऽभ्युपेतः सहितः, आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते, सुखदुःखादयश्च विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ संक्रामन्ति, बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा, ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते, ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचर्यते, आह च पातञ्जले— 'शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि तदात्मक इव प्रतिभासत' (यो० सू० ।२।२०।। व्यासभाष्यम्) इति, मुख्यतस्तु चिच्छक्तिर्विषयपरिच्छेदशून्या, बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदस्वभावत्वात् चिच्छक्तिसन्निधानाच्चाचेतनाऽपि बुद्धिश्चेतना वतीवावभासते, वादमहार्णवोऽप्याह—

बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थविप्रतिबिम्बकम् ।
द्वितीयदर्पणकल्पे पुरुषे ह्यधिरोहति ।।

तदेव भोक्तृत्वमस्य न तु विकारोत्पत्तिरिति । तथा चासुरिः—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ।।

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधेः स्फटिको यथा ।।

इति नित्यचिज्ज्ञानयुक्तः ।

बन्धमोक्षसंसाराश्च नित्येऽप्यात्मनि भृत्यगतयोर्जयपराजययोरिव तत्फलकोशलाभादिसम्बन्धे नस्वामिन्युपचारवदत्राप्युपचर्यन्त इत्यदोषः ।। ४१ ।।

तत्त्वोपसंहारमाह—

पञ्चविंशतितत्त्वानि सांख्यस्यैवं[1] भवन्ति च ।
प्रधाननरयोश्चात्र वृत्तिः पङ्ग्वन्धयोरिव ।।४२।।

इस प्रकार से सांख्य के पचीस तत्त्व होते हैं । इस दर्शन में प्रकृति और पुरुष का व्यापार लँगड़े और अन्धे की भांति होता है ।। ४२ ।।

पूर्वार्धं निगदसिद्धम् , अत्र सांख्यमते प्रधाननरयोः प्रकृतिपुरुषयोर्वृत्तिर्वर्तनं पंग्वन्धयोरिव पङ्गुश्चरणविकलः, अन्धश्च नेत्रविकलः, यथा पङ्ग्वन्धौ संयुक्तावेव कार्यसाधनाय प्रभवतो न पृथग्भूतौ प्रकृतिपुरुषयोरपि तथैव कार्यकर्तृत्वम् , प्रकृत्युपात्तं पुरुषो भुङ्क्त इत्यर्थः ।। ४२ ।।

मोक्षप्रमाणं चाह—

प्रकृतिवियोगो मोक्षः पुरुषस्यैवान्तरज्ञानात् ।[2]
मानत्रितयं च भवेत् प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दम् ।।४३।।

---

१. संख्ययैवं—पाठा०   २. पुरुषस्य बतैतदन्तरज्ञानात्—पाठा०

विवेक अथवा (प्रकृति और पुरुष के) अन्तर के ज्ञान से पुरुष को ही मोक्ष होता है (जिसका स्वरूप है) प्रकृति से (पुरुष की) पृथकता। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण हैं ॥ ४३ ॥

मोक्षः किमुच्यत इत्याह—पुरुषस्यात्मन आन्तरज्ञानाद्विविधबन्धविच्छेदात्प्रकृतिवियोगो यः स मोक्षः प्रकृत्या सह वियोगे विरहे सति पुरुषस्यापवर्ग इति, आन्तरज्ञानं च बन्धविच्छेदाद्भवति, बन्धश्च प्राकृतिकवैकृतिकदाक्षिणभेदात्त्रिविधः, तद्यथा—प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते तेषां वैकारिकः, इष्टापूर्ते दाक्षिणः, इष्टापूर्तं जनभोजनदानादिकं तस्मिन् पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टकारी कामोपहतमना बध्यत इति।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यत् श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

इति वचनाद्। मुण्डकोप० ।१।२।१०।।

इति त्रिविधबन्धविच्छेदात्पुरुषानुभवस्ततः प्रकृतिवियोगः पुरुषस्य, प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनाच्च निवृत्तायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति श्लोकपूर्वार्द्धम्, मानत्रितयं च भवेत् स्यात् प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दं, चकारः सर्वत्र सम्बध्यते, प्रत्यक्षमिन्द्रियोपलभ्यं लैङ्गिकमनुमानगम्यं, शाब्दं चागमस्वरूपमिति प्रमाणत्रयम् ॥ ४३ ॥

अथोपसंहरन्नाह—

[जैनमतम्]

एवं सांख्यमतस्यापि समासः कथितोऽधुना।
जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते सुविचारवान् ॥४४॥

इस प्रकार सांख्यमत का संक्षेप कहा गया। अब विचारपूर्ण जैनदर्शन का संक्षेप कहा जा रहा है ॥ ४४ ॥

पूर्वोक्तप्रकारेण सांख्यमतस्यापि समासः संक्षेपः कथितः, अपि समुच्चयार्थे न केवलं बौद्धनैयायिकयोः संक्षेप उक्तः, सांख्यमतस्याप्यधुना कथित इति, सांख्य इति पुरुषनिमित्तेयं संज्ञा संख्यस्य इमे सांख्याः, [2]तालव्यो वा शकारः, शङ्खनामाऽऽदिपुरुषः।

---

१. आप्रामाणिकोऽयं कल्पः। प्रथमकल्पस्तु कथमपि सङ्गमनीयः। वस्तुतस्तु, 'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयत' इति व्यासस्मृत्या भावार्थकाङ्प्रत्ययनिष्पन्नज्ञानवाचकसङ्ख्याशब्दात्सम्बन्धिबोधकऔषिकाणां 'सांख्य'शब्दः सिद्धः, 'यद्वा संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते। चतुर्विंशतितत्त्वानि तेन सांख्याः प्रकीर्त्तिताः' इति भारतात्, संख्याशब्दा द्वेदार्थकाणां निष्पन्नः 'सांख्य'शब्दः उभयथाऽपि योगरूढः। (गो०)

२. सो गदितो–पाठा०

अथ क्रमायातं जैनमतोद्देशमाह—अधुनेत्युत्तरार्द्धेन सम्बध्यते। अधुना इदानीं जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते—कथंभूत इति ? सुविचारवान्, सुष्ठु शोभनो विचारोऽर्थोऽस्यास्तीत्यर्थे मतुप्। सुविचारवानिति साभिप्रायं पदम्। अपरदर्शनानि हि—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥
इत्याद्युक्त्या न विचारपदवीमाद्रियन्ते।

जैनस्त्वाह—

अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेदं न विचार्यते।
निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्यात्परीक्षाया बिभेति किम्॥

इति युक्तियुक्तविचारपरम्परापरिचयपथपथिकत्वेन जैनो युक्तिमार्गमेवावगाहते, न च पारम्पर्यादिपक्षपातेन युक्तिमुल्लङ्घयति परमार्हतः, उक्तञ्च—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

इत्यादिहेतुहेतिशतनिरस्तविपक्षप्रसरत्वेन 'सुविचारवान्' इत्यसाधारणविशेषणप्रसरणं ज्ञेयमिति॥ ४४॥

तदेवाह—

जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः।
हतमोहमहामल्लः केवलज्ञानदर्शनः॥ ४५॥
सुरासुरेन्द्रसंपूज्यः सद्भूतार्थोपदेशकः।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संप्राप्तः परमं पदम्॥ ४६॥

उस जैन दर्शन में राग और द्वेष से रहित, मोहरूपी महान् पहलवान को परास्त करने वाले, केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन वाले, देव और दानवों के पूज्य, सत्य एवं यथार्थ विषयों के उपदेष्टा, समस्त कर्मों का क्षय करके परम पद को प्राप्त जिनेन्द्र देवता हैं॥४५-४६॥

तत्र तस्मिन् जैनमते जिनेन्द्रो देवता कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा परमं पदं सम्प्राप्त इति सम्बन्धः, जैनेन्द्र इति जयन्ति रागादीनिति जिनाः सामान्यकेवलिनस्तेषामिन्द्रः स्वामी तादृशासदृशचतुस्त्रिंशदतिशयसम्पत्सहितो जिनेन्द्रो देवता दर्शनप्रवर्तक आदिपुरुष, एष कीदृक् शिवं सम्प्राप्त इति परासाधारणानि विशेषणान्याह—रागद्वेषविवर्जित इति। रागः सांसारिकस्नेहोऽनुग्रहलक्षणः, द्वेषो वैराग्याद्यनुबन्धान्निग्रहलक्षणः, ताभ्यां विवर्जितो रहितः। एतावेव दुर्जयौ दुरन्तभवसम्पातहेतुतया च मुक्तिप्रतिरोधकौ समये प्रसिद्धौ, यदाह—

१. प्रकाशकः—वाठा०

को दुःखं पाविज्जा कस्स न सुक्खेहिं विम्हहो हुज्जा ।
को अ न लभेज्ज मुक्खं रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥
(को दुःखं प्राप्नुयात् कस्य न सौख्यैर्विस्मयो भवेत् ।
कश्च न लभेत मोक्षं रागद्वेषौ यदि न भवेताम् ॥)

तथा हतमहामोहमल्लः मोहनीयकर्मोदयाच्च हिंसाऽऽत्मकशास्त्रेभ्योऽपि मुक्तिकाङ्क्षणादिव्यामोहो मोहः स एव दुर्ज्जेयत्वान्महामल्ल इव महामल्लः, हतो मोहो महामल्लो येनेति स तथा, रागद्वेषमोहसद्भावादेव न चान्यतीर्थाधिष्ठातारो मुक्त्यङ्गतया प्रतिभासन्ते, तत्सद्भावश्च तेषु सुज्ञेय एव । यदुक्तम्—

रागोऽङ्गनासङ्गमनानुमेयो द्वेषो द्विषां दारणहेतिगम्यः ।
मोहः कुवृत्तागमदोषसाध्यो नो यस्य देवस्य स चैवमर्हन् ॥

इति रागद्वेषमोहरहितो भगवान्, तथा केवलज्ञानदर्शनः, धवखदिरपलाशादिव्यक्तिविशेषावबोधो ज्ञानम्, वनमिति सामान्यावबोधो दर्शनम्, केवलशब्दश्चोभयत्र सम्बध्यते, केवलमिन्द्रियादिज्ञानानपेक्षं ज्ञानं दर्शनञ्च यस्येति, केवलज्ञानकेवलदर्शनात्मको हि भगवान् करतलकलितविमलमुक्ताफलवद् द्रव्यपर्यायविशुद्धमखिलमिदमनवरतं जगत्स्वरूपं पश्यतीति केवलज्ञानदर्शन इति पदं साभिप्रायम्, अन्यस्य हि प्रथमं दर्शनमुत्पद्यते, ततो ज्ञानं, केवलिनस्त्वादौ ज्ञानं ततो दर्शनमिति ।

सुरासुरेन्द्रसम्पूज्यः सेवाविधानसावधाननिरन्तरढौकमानदासायमानदेवदानववन्दनीयः; तादृशैरपि पूज्यस्य मानवतिर्यक्खेचरकिन्नरनिकरसंसेव्यत्वमानुषङ्गिकमिति ।

तथा सद्भूतार्थोपदेशकः सद्भूतार्थान् द्रव्यपर्यायरूपान् नित्यानित्यसामान्यविशेषसदसदभिलाप्याद्यनन्तधर्मात्मकान् पदार्थानुपदिशति, तथा हि—वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणं, तच्च नित्यैकान्ते न घटते, अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीताक्रमेण वा, अन्योन्यव्यतिरिक्तधर्माणामर्थानां प्रकारान्तरेणोत्पादाभावात्, तत्र न क्रमेण स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् समर्थस्य कालक्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो वा सामर्थ्याप्राप्तेः, समर्थो हि तत्सहकारिसमवधानेन तमर्थं करोतीति चेद् ?

न, तस्य सामर्थ्यमपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् 'सापेक्षमसमर्थमि'ति न्यायात्, न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते, अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत्तमपेक्षत इति चेत् ?

तत्किं स भावोऽसमर्थः समर्थो वा, समर्थश्चेत्किं सहकारिप्रेक्षणादीनि तान्यपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति ।

ननु समर्थमपि बीजमिलाजलानिलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति नान्यथा, तत्किं बीजस्य सहकारिभिः किंचिदुपक्रियते न वा, यदि नोपक्रियते तदा सहकारिसन्निधानात्प्रागिव किं न सोऽर्थक्रियायामुदास्ते, उपक्रियते चेत्स, तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियत इति वाच्यम्, अभेदे स एव क्रियत इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता, कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वापत्तेः, भेदे सति कथं तस्योपकारः, किं न सह्यविन्ध्यादेरपि।

— तत्सम्बन्धात्तस्यायमिति चेद् ? उपकार्योपकारकयोः कः सम्बन्धः, न तावत्संयोगो द्रव्ययोरेव तस्य भावात्, अत्र तूपकार्यं द्रव्यमुपकारश्च क्रियेति न संयोगो, नापि समवायः, तस्यैकत्वाद् व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वाद् न नियतैः सम्बन्धिभिः सम्बन्धो युक्तः, नियतसम्बन्धिसम्बन्धे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृतोपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः, तथा च सत्युपकारस्य भेदाभेदकल्पना तदवस्थैव।

उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात्, भेदे पुनरपि समवायस्य न नियतसम्बन्धे सम्बन्धत्वं, तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते नाप्यक्रमेण, न ह्येको भावः सकलकालभाविनीर्युगपत्सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकं, कुरुतां वा तथाऽपि स द्वितीयक्षणे किं कुर्यात्, करणे वा क्रमपक्षभावी दोषः; अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाभावादवस्तुत्वप्रसङ्ग इत्येकान्तनित्या क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्ताऽर्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना व्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति, अर्थक्रियाकारित्वञ्च निवर्तमानं स्वव्याप्यसत्त्वं निवर्तयतीति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः।

एकान्तानित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः, अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी, स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थो देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात्, क्रमो हि पौर्वापर्यं, तत्क्षणिकस्यासम्भवि, अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिर्देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते, न चैतस्मिन् विनाशिनी साऽस्ति।

यदाहुः—

यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते॥

न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति, सन्तानस्यावस्तुत्वात्, वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः, अथाक्षणिकत्वं तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः, नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके सम्भवति, स ह्येको बीजपूरादिरूपादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन्नेकेन स्वभावेन जनयेद् नानास्वभावैर्वा, यद्येकेन तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यादेकस्वभावानन्यत्वात्।

अथ नानास्वभावैर्जनयति किंचिद्रूपादिकमुपादानभावेन किंचिद्रसादिकं सहकारित्वेनेति, ते तर्हि स्वभावास्तस्यात्मभूता अनात्मभूता वा, अनात्मभूताश्चेत्स्वभावत्वहानिः, यद्यात्मभूतास्तर्हि तस्यानेकत्वमनेकस्वभावत्वात्, स्वभावानां वैकत्वं प्रसज्येत, तदव्यतिरिक्तत्वात्तेषां तस्य चैकत्वाद् ।

अथ य एवैकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते ? तर्हि नित्यस्यैकरूपस्य क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसांकर्यं च कथमिष्यते क्षणिकवादिना ।

अथ नित्यमेकस्वरूपत्वादक्रमम्, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिरिति चेद् ? अहो स्वपक्षपाती देवानाम्प्रियः, यः खलु स्वयमेकस्मान्निरंशाद्रूपादिक्षणलक्षणात्कारणाद्युगपदनेककारणसाध्यान्यनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि, परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति तस्मात्क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्निवृत्त्यैव व्याप्याऽर्थक्रिया व्यावर्तते, तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलम्भबलेनैव निवर्तत इत्येकान्तानित्यवादो न रमणीयः ।

स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा ।

न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासयोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम् ? नित्यपक्षानित्यपक्षविलक्षणस्य कथंचित्सदसदात्मकस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात् तथैव च सर्वैरनुभवादिति ।

तथा च पठन्ति—

भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षत इति ॥

तथा सामान्यैकान्तं, विशेषैकान्तं, भिन्नौ सामान्यविशेषौ, चेत्थं निराचष्टे, तथा हि—विशेषाः सामान्याद्भिन्ना अभिन्ना वा, भिन्नाश्चेन्मण्डूकजटाभारानुकाराः, अभिन्नाश्चेत्तदेव तत्स्वरूपवदिति सामान्यैकान्तः ।

सामान्यैकान्तवादिनस्तु द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदा अद्वैतवादिनः सांख्याश्च ।

पर्यायनयान्वयिनो भाषन्ते विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थस्ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वाद् ।

न हि गवादिव्यक्त्यनुगमकाले वर्णस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमवहायान्यत्किंचिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते तादृशस्यानुभवाभावात् ।

तथा च पठन्ति—

एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।
साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यत इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम् ।

किं च यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते—तदेकमनेकं वा, एकमपि सर्वगतमसर्वगतं च, सर्वगतं चेत्किं न व्यक्त्यन्तरालेष्वपि लभ्यते, सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे वा तस्य यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति, एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरप्यविशेषात् , असर्वगतं चेद्विशेषरूपापत्तिरभ्युपगमबाधश्च ।

अथानेकं गोत्वाश्वत्वघटत्वादिभेदभिन्नत्वात् , तर्हि विशेषा एव स्वीकृता अन्योन्यव्यावृत्तिहेतुत्वाद्, न हि यद् गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति, अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणं, तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं लक्ष्यते, न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते तस्य निष्क्रियत्वात् , वाहदोहादिष्वर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात् , तदिदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा, भिन्नं चेदवस्तु, विशेषविश्लेषार्थक्रियाकारित्वाभावाद्, अभिन्नं चेद्विशेषा एव तत्स्वरूपवदिति विशेषैकान्तवादः ।

नैगमनयानुगामिनस्त्वाहुः—स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ, तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात् , तथा हि—सामान्यविशेषावत्यन्तं भिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यासितत्वाद्, यावेवं तावेवं यथा पाथःपावकौ, तथा चैतौ, तस्मात्तथा, सामान्यं हि गोत्वादि सर्वगतं, तद्विपरीताश्च शबलशाबलेयादयो विशेषाः, ततः कथमेषामैक्यं युक्तं, न सामान्यात् पृथग् विशेषस्योपलम्भ इति चेत् ? कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम् ?

सामान्यव्याप्तस्येति चेद् ? न, तर्हि स विशेषोपलम्भः, सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात् , ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेषग्रहणाभावात् तद्वाचकं ध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत् प्रमाता, न चैतदस्ति विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात् , तस्माद्विशेषमभिलषता तत्र व्यवहारं प्रवर्तयता तद्ग्राहको बोधोऽभ्युपगन्तव्यः ।

एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्यः ।

तस्मात्स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने पृथक् प्रतिभासमानत्वाद् द्वावपीतरेतरविशकलितौ, ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटत इति स्वतन्त्रः सामान्यविशेषवादः, स्वतन्त्रसामान्यविशेषदेशका नैगमनयानुरोधिनः काणादा आक्षपादाश्च ।

तदेतत्पक्षत्रयमपि क्षोदं न क्षमते, प्रमाणबाधितत्वात् , सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वाद् वस्तुनो हि लक्षणमर्थक्रियाकारित्वं, तच्चानेकान्तवाद एवाविकलं कलयन्ति परीक्षकाः, तथा हि—गौरि-

त्युक्ते खुरककुदलाङ्गूलसास्नाविषाणाद्यवयवसम्पन्नं वस्तुरूपं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते तदा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते, यत्रापि च शबला गौरित्युच्यते, तत्रापि च यथा विशेषप्रतिभासस्तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव, शबलेति केवलविशेषोच्चारणेऽप्यर्थात्प्रकरणाद्वा गोत्वमनुवर्तते; अपि च शबलत्वमपि नानारूपं तथा दर्शनात् ततो वक्त्रा शबलेत्युक्ते क्रोडीकृतशबलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्वं व्यवस्थाप्यते; तदेवमाबालगोपालं प्रतीतप्रसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रं, न हि क्वचित् कदाचित् केनचित् किञ्चित्सामान्यं विशेषविनाकृतमनुभूयते, विशेषा वा तद्विनाकृताः।

यदाहुः—

द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः।
क कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन च ॥ इति।

केवलं दुर्णयबलप्रभावितप्रबलमतिव्यामोहादेकमपलप्यान्यद् व्यवस्थापयन्ति कुमतयः, सोऽयमन्धगजन्यायः।

येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्तदोषास्तेऽप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वान्नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः।

स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः-सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथंचिद्भिन्नं, कथंचित्तदात्मकत्वाद्विसदृशपरिणामवद्, यथैव हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात्समानेति, तेन समानो गौरयं, सोऽनेन समान इति प्रतीतेः।

न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात्सामान्यरूपताव्याघातः, यतो रूपादीनामपि व्यक्तितस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, न च तेषां गुणरूपताव्याघातः, कथंचिद्व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव पृथगव्यपदेशादिभाक्त्वाद् विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात्पृथग् भवितुमर्हन्ति, यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत्तदा तेषामसर्वगतत्वं, ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात्।

न च तस्य तत्सिद्धं, प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् सामान्यस्य विशेषाणाञ्च परस्परं कथंचिदव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थितत्वाद् विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकात् तेऽप्येकरूपा इत्येकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात्सर्वत्र विज्ञेयम्, अनेकत्वं च प्रमाणार्पणात् तस्य सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरिणामवत् प्रतिव्यक्तिभेदात्।

एवं चासिद्धं सामान्यविशेषयोः सर्वथा विरुद्धधर्माध्यासितत्वं कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वं चेद् विवक्षितं तदाऽस्मत्पक्षप्रवेशः, कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासस्य कथंचिद्भेदाविनाभूतत्वात् पाथःपावकदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः, तयोरपि कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकारात्, पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासो भेदश्च, द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्वैपरीत्यमिति तथा च कथं न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटत इति ।

उक्तं च—

दोहिं विण एहिं पणीयं सत्थमुलूगेण तहवि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोणणिरवेक्खं ॥
(द्वाभ्यामपि नयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रमुलूकेन तथाऽपि मिथ्यात्वम् ।
यत्सविषयप्रधानत्वेनान्योन्यनिरपेक्षम् ॥)

तथा—

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥

तथैकान्तसत्त्वमेकान्तासत्त्वं च वार्त्तमेव, तथा हि—सर्वभावानां हि सदसदात्मकत्वमेव स्वरूपम्, एकान्तसत्त्वे वस्तुनो वैस्वरूप्यं स्याद्, एकान्तासत्त्वे च निःस्वभावता भावानां स्यात्, तस्मात्स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् सदसदात्मकं वस्तु सिद्धम् ।

यदाहुः—

'सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः' ॥ इति ।

ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकान्तात्मकत्वं घटस्य सूपपादम्, एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासम्भवाद् ।

आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—

'जे एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ ।
जो सव्वं जाणइ सो एगं जाणइ' ॥
(य एकं जानाति स सर्वं जानाति ।
यः सर्वं जानाति स एकं जानाति ॥)

तथा—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥

इति सुघटं सदसदनेकान्तात्मकं वस्तु, अनयैव भङ्ग्या स्यादस्तिस्यान्नास्तिस्यादवक्तव्यादिसप्तभङ्गीविस्तरस्य जगत्पदार्थसार्थव्यापकत्वाद् अभिलाप्यानभिलाप्यात्मकमप्यूह्यमिति ।

सद्भूतार्थोपदेशकः कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वेति । कृत्स्नानि सर्वाणि घात्यघातीनि यानि कर्माणि जीवभोग्यवेद्यपुद्गलास्तेषां क्षयं निर्जरणं विधाय; परमं पदं सम्प्राप्तः ।

अपरे हि सौगतादयो मोक्षमवाप्यापि तीर्थनिकारादिसम्भवे भूयो भूयो भवमवतरन्ति ।

यदाहुः—

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥ इति ।

न ते परमार्थतो मोक्षगतिभाजः कर्मक्षयाभावाद्, न हि तत्त्वतः कर्मक्षये पुर्नभवावतारः ।

यदुक्तम्—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ इति ।
अर्हंश्च भगवान् कर्मक्षयपूर्वमेव शिवपदं प्राप्त इति ॥ ४६ ॥

तत्त्वान्याह—

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमास्रवसंवरौ ।
बन्धश्च[1] निर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते ॥ ४७ ॥

इस मत में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष नव तत्त्व हैं । ४७ ॥

तन्मते जैनमते, नव तत्त्वानि सम्भवन्तीति ज्ञेयम्, नामानि निगदसिद्धान्येव ॥ ४७ ॥

जीवाजीवपुण्यतत्त्वमेवाह—

(युग्मम्)

तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान् ।
कर्त्ता शुभाशुभं[2] कर्म भोक्ता कर्मफलस्य च ॥ ४८ ॥
चैतन्यलक्षणो जीवो यश्चैतद्वैपरीत्यवान् ।[3]
अजीवः स समाख्यातः पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः ॥ ४९ ॥

---

१. बन्धो विनिर्जरा–पाठा० २. शुभाशुभकर्मकर्त्ता–पाठा०
३. विपरीतवान्–पाठा०

इनमें ज्ञान आदि धर्मों से युक्त तथा अयुक्त, परिणामशाली, शुभ तथा अशुभ कर्मों का सम्पादक, और कर्मफलों को भोगने वाला, तथा चैतन्यस्वरूप जीव है। जो इससे विपरीत हैं वह 'अजीव' कहा जाता है। पुण्य है शोभनकर्मो की प्रकृति ॥ ४८-४९ ॥

तत्र जैनमते, चैतन्यलक्षणो जीव इति सम्बन्धः, विशेषणान्याह—ज्ञानादिधर्मभ्यो भिन्नाभिन्न इति। ज्ञानमादिर्येषां धर्माणामिति ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा धर्मगुणास्तेभ्योऽयं जीवश्चतुर्दशभेदोऽपि कथञ्चिद्भिन्नः कथञ्चिदभिन्न इत्यर्थः, एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु स्वापेक्षया ज्ञानवत्त्वमस्त्येवेत्यभिन्नत्वं ज्ञानादिभ्यः, परापेक्षया पुनरज्ञानवत्त्वमिति भिन्नत्वं, लेशतश्चेत्सर्वजीवेषु न ज्ञानवत्त्वं तदा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात्, तथा च सिद्धान्तः—

'सव्वजीवाणं पियणं अक्खरस्स,
अणन्तओ भागो निच्चुग्घाडिओ।
जइ सो वि आवरेज्झा
ता जीवो अजीवत्तं पाविज्झा।
सुद्धा वि मेहसमुदये होइ पहा चन्दसूराणम्' ॥

(सर्वजीवानां प्राणानाम् अक्षरस्य
अनन्तको भागो नित्योद्घाटितः।
यदि सोऽप्याव्रियेत तदा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात्।
शुद्धाऽपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्याणाम् ॥)

तथा विवृत्तिमानिति। विवृत्तिः परिणामः साऽस्यास्तीति मतुप्, सुरनरनारकतिर्यङ्क्ष्वेकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तजातिषु विविधोत्पत्तिरूपान् परिणामाननुभवति जीव इत्यर्थः, अन्यच्च शुभाशुभं कर्म कर्त्ता, शुभं सातवेद्यम्, अशुभमसातवेद्यं, शुभञ्चाशुभञ्चेति द्वन्द्वः, एवंविधं कर्म भोक्तव्यफलकर्तृभूतं कर्त्ता स्वात्मसाद्विधाता उपार्जयितेति यावद्, न च साङ्ख्यवदकर्त्ताऽऽत्मा शुभाशुभाबन्धकश्चेति तथा कर्मफलम्भोक्ता न च केवलः कर्त्ता, किं तु भोक्ताऽपि स्वोपार्जितपुण्यपापकर्मफलस्य वेदयिता न चान्यकृतस्यान्यो भोक्ता।

तथा चागमः—

'जीवाणं भन्त! किं अत्तकडे दुक्खे
परकडे दुक्खे तदुभयकडे दुक्खे?
गोयम! अत्तकडे दुक्खे
नो परकडे दुक्खे नो तदुभयकडे दुक्खे' ॥ इति।

(जीवानां भदन्त! किमात्मकृतं दुःखं परकृतं दुःखं तदुभयकृतं दुःखम्?
गोतम! आत्मकृतं दुःखं नो परकृतं दुःखं नो तदुभयकृतं दुःखम् ॥)

कर्त्तैव भोक्ता तथा चैतन्यलक्षण इति। चैतन्यं चेतनास्वभावत्वं, तदेव लक्षणं मूलगुणो यस्येति सूक्ष्मबादरभेदा एकेन्द्रियास्तथा विकलेन्द्रियास्त्रयः, संज्ञासंज्ञिभेदाश्च पञ्चेन्द्रियाः, सर्वेऽपि पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति चतुर्दशापि जीवभेदाश्चैतन्यं न व्यभिचरन्तीति।

अथाजीवमाह—'यश्चैतद्वैपरीत्यवानजीवः स समाख्यात'–इति। यः पुनस्तस्माज्जीवलक्षणाद्वैपरीत्यमन्यथात्वमस्यास्तीति तद्वैपरीत्यवान् विपरीतस्वभावोऽचेतनः सोऽजीवः समाख्यातः कथितः पूर्वसूरिभिरिति, भेदाश्च धर्माधर्माकाशपुद्गलाः स्कन्धदेशप्रदेशगुणा अद्धाकेवलपरमाणुश्चेति चतुर्दश जीवभेदाः।

पुण्यं सत्कर्मपुद्गला इति। पुण्यं नाम तत्त्वं कीदृगित्याह–सत्कर्मपुद्गला इति। सच्छोभनं सातवेद्यं कर्म, तस्य पुद्गला दलपाटकानि पुण्यप्रकृतय इत्यर्थः। ताश्च द्वाचत्वारिंशत्तद्यथा—

नरतिरिसुराउउच्चं सायं परघायआयघुज्जोयं।
तित्थुस्सास्सुनिमाणं पणिंदिव इरुस्सभचउरसं॥
(नरतिर्यक्सुरायुरुच्चं सातं परघातातवोद्योतम्।
तीर्थोच्छ्वासनिर्माणं पञ्चेन्द्रियवज्रर्षभचतुरस्रम्॥)

तसदसअं वन्नचउक्कं सुरमणुअदुगंतणुपंचअं उवंगतिअं।
अगुरुलहुपडमखगई बायालीस सुहपयडी॥

भावार्थस्तु ग्रन्थविस्तरभयान्नोच्यत इति श्लोकार्थः॥ ४८–४९॥

(त्रसदशकं वर्णचतुष्कं सुरमनुजद्विकं तनुपञ्चकमुपाङ्गत्रिकम्।
अगुरुलघुप्रथमखगतिर्द्वाचत्वारिंशत् शुभप्रकृतयः॥)

शेषतत्त्वमाह—

पापं तद्विपरीतन्तु मिथ्यात्वाद्याश्च हेतवः।
यस्तैर्बन्धः[1] स विज्ञेय आस्रवो जिनशासने॥ ५०॥

उससे (पुण्य से) विपरीत 'पाप' है। मिथ्यात्व आदि इसके कारण हैं। उन (मिथ्यात्व आदि) से होने वाला जो कर्मबन्धन है, उसे जैनदर्शन में आश्रव समझना चाहिए॥ ५०॥

तु पुनस्तद्विपरीतं पुण्यप्रकृतिविसदृशं पापं पापतत्त्वमित्यर्थः, मिथ्यात्वाद्याश्चेति। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा हेतवः पापस्य कारणानि, तत्प्रकृतयश्च द्व्यशीतिस्तद्यथा—

'थावरदसअं जाईचउअं अपढमसंठाणखगइसंघयणा।

---

१. ये बन्धस्य–पाठा०

तिरिनिरयदुगाउजाईवन्नचऊक्कं नामचउतीसा ॥
नरयाउनीयअस्सायघाइपणयालसहिवासीई' ॥ इति ।
(स्थावरदशकं जातिचतुष्कं ।
अप्रथमसंस्थानखगतिसंनवनानि ॥
तिर्यं नरयद्विकायुर्जातिवर्णचतुष्कं नाम चत्वारिंशत् ।
नरकायुर्नीचासाघातिपञ्चचत्वारिंशत्सहितद्वयशीतिः ॥)

पुण्यप्रकृतिव्यतिरिक्ताः पापप्रकृतयो द्व्यशीतिः । वर्णचतुष्कस्य तु शुभाशुभरूपेणोभयत्रापि सम्बध्यमानत्वान्न दोषः, यस्तैर्मिथ्यादर्शनादिभिर्बन्धः कर्मबन्धः स जिनशासन आश्रवो विज्ञेयः, आश्रवतत्त्वं ज्ञेयमित्यर्थः, तत्प्रकृतयश्च द्वाचत्वारिंशत्, तथा हि–पञ्चेन्द्रियाणि, सत्वारः कषायाः, पञ्च व्रतानि, मनोवचनकायाः, पञ्चविंशतिक्रियाश्च कायिक्यादय इत्याश्रवः ॥५०॥

संवरस्तन्निरोधस्तु बन्धो जीवस्य कर्मणः ।
अन्योन्यानुगमात्कर्मसम्बन्धो[1] यो द्वयोरपि ॥ ५१ ॥

आश्रव के हेतुओं का प्रतिरोध 'संवरतत्त्व' हैं । जीव और कर्म दोनो पस्पर मिलने से जो दोनों का सम्बन्ध है वह 'बन्ध' हैं ॥ ५१ ॥

तु पुनस्तन्निरोध आश्रवद्वारप्रतिरोधः संवरतत्त्वं संवरप्रकृतयस्तु सप्तपञ्चाशत्तद्यथा—

समिइगुत्तिपरीसहजइधम्मभावणाचरित्ताणि ।
पणतिगदुवीसदसवारहपञ्चभेएहिं सगवणा ॥
(समितिगुप्तिपरीषहयतिधर्मभावनाचरित्राणि ।
पञ्चत्रिद्वाविंशतिदशद्वादशपञ्चभेदैः पञ्चाशत् ॥)

पञ्च समितयस्तिस्रो गुप्तयो, द्वाविंशतिः परीषहा, दशविधो यतिधर्मः, द्वादश भावनाः, पञ्च चारित्राणीति प्रकृतयः, बन्धो नाम जीवस्य प्राणिनः कर्मणो वेद्यस्यान्योन्यानुगमात् परस्परक्षीरनीरन्यायेन लोलीभावाद् यो द्वयोरपि जीवकर्मणोः सम्बन्धः संयोगः स बन्धनाम तत्त्वमित्यर्थः; सचतुर्विधः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्—

'स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसञ्चयः' ॥

इत्यादिः सम्बन्धो ज्ञेयः ॥ ५१ ॥

निर्जरामोक्षौ चाह—

बद्धस्य कर्मणः शाटो यस्तु सा निर्जरा मता ।

---

१. अन्योन्यानुगमात्सा तु यः सम्बन्धो द्वयोरपि–पाठा०

आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते ॥ ५२ ॥

बद्ध प्राणियों के कर्म को जो क्षय करना है, वह 'निर्जरा' अभीष्ट है। और देह आदि का सदा के लिए छूट जाना मोक्ष कहा जाता है ॥ ५२ ॥

यः पुनर्बद्धस्य स्पृष्टबद्धनिधत्तनिकाचितादिरूपेणार्जितस्य कर्मणस्तपश्चरण-ध्यानजपादिभिः शाटः कर्मक्षपणं सा निर्जरा मता पूर्वसूरिभिरिति, सा पुनर्द्विविधा सकामाकामभेदेन, तु पुनर्देहादेरात्यन्तिको वियोगो मोक्ष उच्यते। स च नवविधो यथा—

'संतपयवरूवणया दव्वमाणं च खित्तपसणा य।
कालो य अन्तरं भागो भावो अप्पा बहुं चेव'। इति।
(सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च क्षेत्रस्पर्शना च।
कालश्चान्तरं भागो भावोऽल्पबहुत्वं च ॥)

नवप्रकारो हि करणीयः बाह्यप्राणानामात्यन्तिकापुनर्भावित्वेनाभावः शिव इत्यर्थः।

ननु सर्वथा प्राणाभावादजीवत्वप्रसङ्गः, तथा च द्वितीयतत्त्वान्तर्भूतत्वान् मोक्षतत्त्वभाव इति चेद् ?

न, मोक्षे हि द्रव्यप्राणानामेवाभावः भावप्राणास्तु नैष्कामिकावस्थायामपि सन्त्येव।

यदुक्तम्—

'यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्वं वीर्यसिद्धत्वदर्शनज्ञानैः।
आत्यन्तिकैः संयुक्तो निर्द्वन्द्वेनापि च सुखेन॥
ज्ञानादयस्तु भावप्राणा मुक्तोऽपि जीवति स तर्हि।
तस्माज्जीवत्वं हि नित्यं सर्वस्य जीवस्य'॥ इति।

सङ्गतदेहवियोगान्मोक्ष, आदिशब्दाद्देहेन्द्रियधर्मविरहोऽपीति पद्यार्थः ॥

एवं नामोद्देशेन तत्त्वानि सङ्कीर्त्य फलपूर्वकमुपसंहारमाह—

एतानि तत्र[1] तत्त्वानि यः श्रद्धत्ते स्थिराशयः।
सम्यक्त्वज्ञानयोगेन तस्य चारित्रयोग्यता ॥ ५३ ॥

जैनदर्शन के इन तत्त्वों में जो दृढचित्त हो श्रद्धा करता है, उसमें सम्यक् (दर्शन) और ज्ञान के योग से चारित्र की योग्यता आती है ॥ ५३ ॥

एतानि पूर्वोक्तानि, तत्र जिनमते, तत्त्वानि यः कश्चित् स्थिराशयो दृढचित्त सन् श्रद्धत्ते, अवैपरीत्येन मनुते, एतावता जानन्नप्यश्रदधानो मिथ्यादृगेव।

---

१. नव–पाठा०

यथोक्तं–श्रीगन्धिहस्तिमहातर्के। 'द्वादशाङ्गमपि श्रुतं विदर्शनस्य मिथ्ये' ति तस्य दृढमानसस्य सम्यक्त्वयोगेन चारित्रयोग्यता चारित्रार्हता सम्यक्त्वज्ञानयोगेनेति, सम्यक्त्वं च ज्ञानं च सम्यक्त्वज्ञाने तयोर्योगस्तेन ज्ञानदर्शनविनाकृतस्य हि चारित्रस्य सम्यक्चारित्रस्य व्यवच्छेदार्थं सम्यक्त्वज्ञानग्रहणमिति ॥ ५३ ॥

फलमाह—

तथा भव्यत्व[१]पाकेन यस्यैतत् त्रितयं भवेत् ।
सम्यग्ज्ञानक्रियायोगाज्जायते मोक्षभाजनम् ॥ ५४ ॥

इस प्रकार भव्यता के परिपाक से जिसके ये तीनों हों, वह दर्शन (सम्यक्त्व), ज्ञान और (चारित्र) क्रिया के सम्बन्ध से मोक्ष का पात्र बनता है ॥ ५४ ॥

तथेत्युपदर्शने, भव्यत्वपाकेन परिपक्वभव्यत्वेन तद्भव एवावश्यं मोक्षे गन्तव्यमिति भव्यत्वस्य परिपाकेन यस्य पुंस एतत् त्रितयं दर्शनज्ञानचारित्ररूपं भवेत्, यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सोऽनुक्तोऽपि सम्बध्यत इति स पुमान्मोक्षभाजनं जायते निर्वाणश्रियं भुङ्क्त इत्यर्थः, कस्मात् सम्यग्ज्ञानक्रियायोगात् सम्यगिति। सम्यक्त्वं दर्शनं, ज्ञानमागमावबोधः, क्रिया च चरणकरणात्मिकास्तासां योगः सम्बन्धस्तस्माद्, न च केवलं दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा मोक्षकारणम्।

यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः—

सुबहुं पि सुयमदीयं किं काही चरणविप्पमुक्कस्स।
अन्धस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि ॥
(सुबह्वपि श्रुतमधीतं किं करिष्यति चरणविप्रयुक्तस्य।
अन्धस्य यथा प्रदीपा दीपशतसहस्रकोटिरपि ॥)

तथा—

नाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं।
संजमहीणं च तवं जो चरइ निरत्थयं तस्स ॥
(ज्ञानं चरित्रहीनं लिङ्गग्रहणं च दर्शनविहीनम्।
संयमहीनं च तपः यश्चरति निरर्थकं तस्य ॥)

दर्शनज्ञानचारित्राणि हि समुदितान्येव मोक्षकारणानि यदुवाच, वाचकमुख्यः–'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इति ॥ ५४ ॥

---

१. जीवा द्वेधा, भव्याभव्यभेदात्। अभव्यानां सम्यक्त्वाद्यभावः भव्यानामपि भव्यत्वपाकमन्तरेण तदभाव एव, तथा भव्यत्वपाके तु तत्सद्भावः। ततोऽत्रायमर्थः। भविष्यति विवक्षितपर्यायेणेति भव्यः। तद्भावो भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वं, जीवनामनादिपारिणामिको भावः। गुणरत्न पृ. २०२

प्रमाणे आह—

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा मते।
अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह ॥ ५५ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण अभिमत हैं। जैनमत में दोनों प्रमाणों का विषय अगणित धर्मों से युक्त वस्तु है ॥ ५५ ॥

तथेति प्रस्तुतमतानुसन्धाने, द्वे प्रमाणे मते अभिमते, के ते इत्याह—प्रत्यक्षं च परोक्षं चेति। अश्नुतेऽक्ष्णोति वा व्याप्नोति सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानित्यक्षो जीवोऽश्नुते विषयमित्यक्षमिन्द्रियं च, अक्षमक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षमिन्द्रियाण्याश्रित्य व्यवहारसाधकं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षमित्यर्थः, अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानानि तद्भेदाश्च प्रत्यक्षमेव, अत एव सांव्यवहारिकपारमार्थिकैन्द्रियिकातीन्द्रियिकादयो भेदा अनुमानादधिकज्ञानविशेषप्रकाशकत्वादत्रैवान्तर्भवन्ति।

परोक्षं चेति। अक्षाणां परं परोक्षम्, अक्षेभ्यः परतो वर्तत इति वा, परेणेन्द्रियादिना वीक्ष्यते परोक्षं स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्, अमुयैव भङ्ग्या मतिश्रुतज्ञाने अपि परोक्षमेवेति द्वे प्रमाणे।

प्रमाणमुक्त्वा तद्गोचरमाह—तु पुनः, इह जिनमते, प्रमाणविषयः प्रमाणयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्विषयो गोचरो ज्ञेय इत्यध्याहारः।

किं तदित्याशङ्कायामनन्तधर्मकं वस्त्विति। वस्तुतत्त्वं पदार्थस्वरूपं किंविशिष्टम्? अनन्तधर्मकम् अनन्तास्त्रिकालविषयत्वादपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्याया यत्रेति, अनेन साधनमपि दर्शितं तथा हि—सत्त्वमिति धर्मि; अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः, सत्त्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति हेतुः, अन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोरन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनं, यदनन्तधर्मकं न भवति तत् सदपि न भवति यथा वियदिन्दीवरमिति केवलव्यतिरेकी हेतुः, साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात्।

अनन्तधर्मात्मकत्वं चात्मनि तावत्साकारानाकारोपयोगिता कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलताऽमूर्तत्वमसङ्ख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्वमित्यादयः सहभाविनो धर्माः, हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनारकतिर्यङ्नरत्वादयस्तु क्रमभाविनः, धर्मास्तिकायादिष्वप्यसङ्ख्येयप्रदेशात्मकत्वं गत्याद्युपग्रहकारित्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमरूपित्वमेकद्रव्यत्वं निष्क्रियत्वमित्यादयः, घटे पुनरामत्वं पाकजरूपादिमत्त्वं पृथुबुध्नोदरकम्बुग्रीवत्वं जलादिधारणहरणसामर्थ्यं मत्यादिज्ञानविषयत्वं नवत्वं पुराणत्वमित्यादयः।

एवं सर्वपदार्थेषु नानानयमताभिज्ञेन शाब्दानार्थांश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यशब्देष्वप्युदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषनादाघोषाल्पप्राणमहाप्राणताऽऽदयः तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः ।

अस्य हेतोरनेकान्तप्रचण्डमुद्गराघातदलितशक्तित्वेनासिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादीनां कण्टकानामनवकाश एवेत्येवंविधपर्यायात्यन्तसुभगं वस्तु जिनशासने प्रमाणविषय इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

लक्ष्यनिर्देशं कृत्वा लक्षणमाह—

अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितरज् ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ ५६ ॥

साक्षात्‌रूप से विषय को ग्रहण करने वाला इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष है। इससे भिन्न अर्थात् असाक्षात् रूप से विषय-ग्रहण की अपेक्षा होने पर 'परोक्ष' प्रमाण समझना चाहिए ॥ ५६ ॥

तत्र प्रत्यक्षमिति लक्ष्यनिर्देशः, अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशमिति लक्षणनिर्देशः, परोक्षोऽक्षगोचरातीतः, ततोऽन्योऽपरोक्षस्तद्भावस्तत्ता तया साक्षात्कृततयेति यावद्, अर्य्यत इत्यर्थो गम्यत इति हृदयम्, अर्थ्यत इति वाऽर्थो दाहपाकाद्यर्थक्रियाऽर्थिभिरभिलष्यत इति, तस्य ग्राहकं व्यवसायात्मकतया परिच्छेदकं यज् ज्ञानं तदीदृशमिति; ईदृगेव प्रत्यक्षमिति संटङ्कः, अपरोक्षतयेत्यनेन परोक्षलक्षणसङ्कीर्णताभध्यक्षस्य परिहरति, तस्यासाक्षात्कारितयाऽर्थग्रहणरूपत्वादिति, ईदृशमिति। अमुना तु पूर्वोक्तन्यायात्सावधारणत्वेन विशेषणकदम्बसाचिवलक्षणज्ञानोपदर्शनात्परपरिकल्पितस्य युक्तेरयं प्रत्यक्षतां प्रतिक्षिपति ।

एवं च यदाहुः—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्,' तथा 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमि'त्यादि, तदयुक्तमित्युक्तं भवति, अपूर्वप्रादुर्भावस्य प्रमाणबाधितत्वादत्यन्तासतां शशविषाणादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्, तस्मादिदमात्मरूपतयाविद्यमानमेव विशेषकृद्धेतुकलापसन्निधानात्साक्षादर्थग्रहणपरिणामरूपतया निर्वर्त्तते, तथा चोत्पन्नजन्मरूपादिविशेषणं न संभवेद्, अथैवंविधार्थसूचकमेवैतदित्याचक्षीथास्तथा सत्यविगानमेवेत्यास्तां तावत् ।

अधुना परोक्षलक्षणं दर्शयति—इतरदित्यादि, अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहकं ज्ञानं प्रत्यक्षमुक्तम्, तस्मादितरदसाक्षादर्थग्राहकं ज्ञानं परोक्षमिति ज्ञेयमवगन्तव्यम्, तदपि स्वसंवेदनापेक्षतया प्रत्यक्षमेव, बहिरर्थापेक्षया तु परोक्षव्यपदेशमश्नुत इति दर्शयन्नाह—ग्रहणेक्षयेति। इह ग्रहणं प्रक्रमाद्‌बहिः प्रवर्तनमुच्यते, अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात्तस्येक्षाऽपेक्षा या बहिः प्रवृत्तिपर्या-

लोचनयेति यावत्, तदयमर्थो यद्यपि स्वयं प्रत्यक्षं तथाऽपि लिङ्गशब्दादि-द्वारेण बहिर्विषयग्रहणेऽसाक्षात्कारितया व्याप्रियत इति परोक्षमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

पूर्वोक्तमेव वस्तुतत्त्वमनन्तधर्मात्मकतया द्रढयन्नाह—

येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्सत्तदिष्यते ।[1]

अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः ॥ ५७ ॥

जिसके कारण कोई वस्तु उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता से मुक्त हो वह सत् नाम से अभीष्ट है, उसी कारण से अगणित धर्मों वाली वस्तु प्रमाणों का विषय कही गयी है ॥ ५७ ॥

येन कारणेन यदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तत्सत्सत्त्वरूपमिष्यते । तेन कारणे-नानन्तधर्मकं वस्तु मानगोचरः, प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणविषयः, उक्तं कथितमिति सम्बन्धः, उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्यञ्च, उत्पादव्ययध्रौव्याणि तेषां मेलस्तदेव सत्त्वमिति ज्ञानम्, इष्यते केवलज्ञानिभिरभिलष्यत इति, वस्तुतत्त्वं चोत्पाद-व्ययध्रौव्यात्मकम्, तथा हि—उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा परिस्फुटमन्वयादर्शनात्, लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वय-दर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुट-त्वाद्, न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् ।

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।

सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानादिति—

वचनात्ततो द्रव्यात्मता स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूपद्यते विपद्यते चास्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् ।

न चैवं शुक्लशङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूप-त्वाद्, न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशोऽजहद्वृत्तोत्तराकारो-त्पादाविनाभावी भवेद्, न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्याय-परंपराऽनुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावाद् ।

ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा ? यदि भिद्यन्ते कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकं ? न भिद्यन्ते चेत्तथाऽपि कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकं ? तथा च यद्यु-त्पादादयो भिन्नाः कथमेकं त्र्यात्मकम् ? अथोत्पत्त्यादयोऽभिन्नाः कथमेकं त्र्यात्मकमिति चेत् ?

तदयुक्तं—कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथंचिद् भेदाभ्युपगमात्, तथा हि उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि भिन्नलक्षणत्वाद् रूपादिवद्, न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्, असत आत्मलाभः, सतः सत्त्वाविप्रयोगो, द्रव्य-

---

१. यत्तत्सदिष्यते—पाठा०

रूपतयाऽनुवर्त्तनं, च खलूत्पादादीनां परस्परमसङ्कीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव, न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः, तथा ह्युत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वात् कूर्मरोमवत्, तथा विनाशः केवलो नास्तीत्युत्पत्तिरहितत्वात्तद्वदेव, स्थितिः केवला नास्ति विनाशोत्पादशून्यत्वात् तद्वदेवेत्यन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्।

तथा चोक्तं—

'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वलम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्'॥

इति, व्यतिरेकश्च यदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं न भवति तद्वस्त्वेव न; यथा खरविषाणं, यथेदं तथेदमिति, अत एवानन्तधर्मकं वस्तु मानगोचरः प्रोक्तम्, अनन्ता धर्माः पर्यायाः सामान्यविशेषलक्षणा यत्रेत्यनन्तधर्मकं वस्त्विति, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्यैवानेकधर्मकत्वं, युक्तियुक्ततामनुभवतीति ज्ञापनायैव भूयोऽनन्तधर्मकपदप्रयोगो, न पुनः पाश्चात्त्यपद्योक्तानन्तधर्मकपदेन पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयमिति पद्यार्थः॥ ५७॥

ग्रन्थस्य बालावबोधार्थफलकत्वादथोपसंहरन्नाह—

जैनदर्शनसंक्षेप इत्येष कथितोऽनघः।
पूर्वापरविघातस्तु[1] यत्र क्वापि न विद्यते॥ ५८॥

इस प्रकार यह निष्पाप जैन सिद्धान्त का संक्षेप कहा गया। इस दर्शन में पहले तथा बाद में विवेचित विषयों में कहीं भी विरुद्धार्थता नहीं है॥ ५८॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण, एषः प्रत्यक्षलक्ष्यो, जैनदर्शनसंक्षेपः कथितः, विस्तरस्यागाधत्वेन वक्तुमगोचरत्वाद्, उपयोगसारः संक्षेपो निवेदितः, किंभूतोऽनघो निर्दूषणः सर्वत्रकवक्तव्यस्य सर्वज्ञमूलत्वेन दोषकालुष्यानवकाशात्, तु समुच्चयार्थे, तत्र पुनः पूर्वापरविघातः क्वापि न विद्यते, पूर्वस्मिन्नादावपरस्मिन् प्रान्ते न विघातो विरुद्धार्थता यत्र दर्शने क्वापि पर्यन्तग्रन्थेऽपि परस्परविसंवादो नास्ति, आस्तां तावत्केवलभाषितेषु द्वादशाङ्गेषु पारंपर्यग्रन्थेष्वपि सुसम्बद्धार्थत्वाद् विरुद्धार्थदौर्गन्ध्याभावः।

अयं भावो—यत् परतैर्थिकानां मूलशास्त्रेष्वपि न युक्तियुक्ततां पश्यामः, किं पुनः पाश्चात्त्यविप्रलम्भग्रथितग्रन्थकथासु, यच्च क्वापि कारुण्यादिपुण्य-

१. पूर्वापरपराघातो—पाठा०

कर्मपुण्यानि च वचांसि कानिचिदाकर्णयामस्तान्यपि त्वदुक्तसूक्तसुधापयोधिमन्थोद्‌गतान्येवरत्नानीव सङ्गृह्य स्वात्मानं रत्नपतय इव बहु मन्वाना मुधा प्रगल्भन्ते ।

यदाहुः श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः—

'सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु
स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः ।
तथैव ताः पूर्णमहार्णवोत्थिता
जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुष' ॥ ५८ ॥

इति परमार्थः ।

अथ वैशेषिकमतस्य देवताऽऽदिसाम्येन नैयायिकेभ्यो ये विशेषं न मन्यन्ते तान् बोधयन्नाह—

देवताविषये भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् ।
वैशेषिकाणां तत्त्वेषु [1] विद्यतेऽसौ निर्दिश्यते [2] ॥ ५९ ॥

नैयायिकों के साथ वैशेषिकों का अधिष्ठाता देवता के विषय में मतान्तर नहीं है,[3] किन्तु तत्त्वों के विषय में है । वह अन्तर प्रकाशित किया जा रहा है ॥ ५९ ॥

शिवदेवतासाम्येऽपि, तत्त्वादिविशेषविशिष्टत्वाद् वैशेषिकास्तेषां वैशेषिकाणां काणादादीनां नैयायिकैराक्षपादैः समं सार्द्धं देवताविषये शिवदेवताऽभ्युपगमे भेदो विशेषो नास्ति, तत्त्वेषु शासनरहस्येषु भेदो विद्यते, तुशब्दोऽध्याहार्यः, असौ विशेषो नैयायिकेभ्यः पृथग्भावो, निर्दिश्यते प्रकाश्यत इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

---

१. तत्त्वे तु—पाठा०

२. निदर्श्यते—पाठा०

३. हरिभद्र की इस उक्ति तथा देवतैक्य के विषय में डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के शब्द द्रष्टव्य हैं :—

"The tradition is preserved in the two Saddarsana Samuccayas of Rajashekhara and Haribhadra with Gunaratna, which, as well as the benedictory verses in most Nyaya works until the tenth and eleventh centuries, justifying the assumption that the Nyaya–Vaisesika was a school of Pasupatas which paid more emphasis to evoloing a system of logic & metaphysics." Hist. Ind. Phil Vol. V. P. 13.

[काणादमतम्]

तान्येव तत्त्वान्याह—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम् ।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं हि तन्मते ॥ ६० ॥

द्रव्य, गुण, कर्म और चौथा सामान्य, तथा विशेष और समवाय ये छः तत्त्व[1] ही उनके मत में मान्य है ॥ ६० ॥

तन्मते वैशेषिकमते, हि निश्चयेन, तत्त्वषट्कं ज्ञेयमिति सम्बन्धः, कथमित्याह—द्रव्यं गुण इत्यादि, आदिमतत्त्वं द्रव्यनाम, भेदबाहुल्येऽपि सामान्यादेकम्, द्वितीयतत्त्वं गुणनाम, तथेति भेदान्तरसूचने, तृतीयं तत्त्वं कर्मसञ्ज्ञम्, चतुर्थकं च तत्त्वं सामान्यम्, चतुर्थमेव चतुर्थकं स्वार्थे कः प्रत्ययः, चः समुच्चये, अन्यच्च विशेषसमवायौ, विशेषश्च समवायश्चेति द्वन्द्व इति तद्दर्शने तत्त्वानि षड् ज्ञेयानि ॥ ६० ॥

भेदानाह—

तत्र द्रव्यं नवधा भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि ।
कालदिगात्ममनांसि च, गुणाः पुनश्च[1]तुर्विंशतिधा ॥६१॥
स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः सङ्ख्या विभागसंयोगौ ।
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥ ६२ ॥
बुद्धिः सुखदुःखेच्छा[2] धर्माधर्मौ प्रयत्नसंस्कारौ ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ॥ ६३ ॥

उन छः तत्त्वों में से द्रव्यतत्त्व नव प्रकार का है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन। गुण चौबीस प्रकार के हैं—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व और अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग ये गुण हैं ॥

---

१. पञ्चविंशति—पाठा० २. सुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नसंस्काराः—पाठा०

३. सामान्यतः वैशेषिक दर्शन में अभाव को लेकर सात पदार्थ स्वीकार किये गये है। विश्वनाथ के अनुसार—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥ कारिकावली प्र. ख. ॥ २ ॥

किन्तु हरिभद्र वैशेषिकसूत्र १. १. ४ के अनुसार छः पदार्थ ही गिनाते है। 'अभाव' की आवश्यकता तथा स्वीकृति के लिए द्रष्टव्य—म० म० गोपीनाथ कविराज का ग्रन्थ—Gleanings from the History & Bibliography of the Nyaya-Vaisesika Literature. pp. 25–26, Calcutta, Nov. 1961.

नवद्रव्याणि चतुर्विंशतिगुणाश्च निगदसिद्धान्येव, संस्कारस्य वेगभावना-स्थितिस्थापकभेदात्त्रिविधत्त्वेऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षयैकत्वम्, शौर्यौदार्या-दीनां च गुणानामेष्वेव चतुर्विंशतिगुणेष्वन्तर्भावान्नाधिक्यम् ॥ ६१-६३ ॥

कर्मसामान्यभेदानाह—

उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम् ।
पञ्चविधं कर्मैतत्परापरे द्वे तु सामान्ये ॥ ६४ ॥

उत्क्षेप, अवक्षेप, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन इस पाँच प्रकार का कर्म हैं और पर तथा अपर दो प्रकार का सामान्य है ॥ ६४ ॥

पञ्चापि कर्मभेदाः स्पष्टा एव, गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यवरोधः, तु पुनः, सामान्ये द्वे द्विसङ्ख्ये, के ते ? इत्याह—परापरे । परञ्चापरं च परापरे, परसामान्यमपरसामान्यं चेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

एतद्व्यक्तिं विशेषव्यक्तिं चाह—

तत्र परं सत्ताऽऽख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु ।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिष्टः ॥ ६५ ॥

उस (सामान्य) में भी 'पर' का नाम 'सत्ता' है, 'अपर' है द्रव्यत्व आदि । तथा 'विशेष' तो निश्चितरूप में नित्य द्रव्यों में रहने वाला, और अन्त्य अर्थात् प्रत्येक तत्त्व का सबसे अन्त में व्यावर्तक निर्दिष्ट किया गया है ॥ ६५ ॥

तत्र तयोर्मध्ये परं सत्ता भावो महासामान्यमिति वोच्यते, द्रव्यत्वाद्यवा-न्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वाद्, अपरसामान्यं द्रव्यत्वादि, एतच्च सामान्य-विशेष इत्यपि व्यपदिश्यते, तथा हि—द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्यं, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः, ततः कर्मधारये सामान्यविशेष इति ।

एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिरूपमपरं, तदपेक्षया घटत्वादिकम् ।

एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यं, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेषः, एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं, तदपेक्षया नीलत्वादिकम् ।

एवं पञ्चसु कर्मसु वर्त्तमानत्वात्कर्मत्वं सामान्यं द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्त-त्वाद्विशेषः, एवं कर्मत्वापेक्षयोत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम् ।

तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं; कया युक्त्येति चेद् ? उच्यते—न द्रव्यं सत्ता द्रव्यादन्य इत्यर्थः, एकद्रव्यत्वाद्, एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वा-दित्यर्थः, द्रव्यत्ववद्, यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति किं तु सामान्यं विशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव, एवं सत्ताऽपि वैशेषिकाणां ह्यद्रव्यं वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा द्रव्यं, तत्राद्रव्यं द्रव्यमाकाशं कालो

दिगात्मानः परमाणवः, अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः, एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति, एकद्रव्यवती सत्तेति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्त्वान्न द्रव्यम् ।

एवं न गुणः सत्ता, गुणेष्वभावाद् गुणत्ववत् , यदि हि सत्ता गुणः स्याद् न तर्हि गुणेषु वर्त्तेत, निर्गुणत्वाद्, गुणानां वर्त्तते च, गुणेषु सत्ता 'सन् गुण' इति प्रतीतेः, तथा न सत्ता कर्म, कर्मसु भावात् कर्मत्ववत् , यदि च सत्ता कर्म स्यान्न तर्हि कर्मसु वर्त्तेत, निष्कर्मत्वात्कर्मणां, वर्त्तते च कर्मसु भावः, 'सत्कर्मे'ति प्रतीतेः, तस्मात्पदार्थान्तरं सत्ता ।

अथ विशेषपदार्थमाहार्याऽर्द्धेन—विशेषस्त्विति । निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्यो विनिर्दिष्टः कथितः, आचार्येणेति ज्ञेयम् , कथमित्याह—अन्त्यो विशेषो नित्यद्रव्यवृत्तिरिति, तथा हि—नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवस्ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम् , तथा च प्रशस्तकारः—अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः, विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्त्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः, तथाऽस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिक्रियाऽवयवोपचयापचयविशेषसंयोगनिमित्तासम्भवाद्, येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिर्देशकालविप्रकर्षदृष्टे च परमाणौ स एवायमिति च प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषा इति, अमी च विशेषा एव, न तु द्रव्यत्वादिवत्सामान्यविशेषोभयरूपा व्यावृत्तेरेव हेतुत्वादित्यर्थः ॥

समवायपदार्थव्यक्तिलक्षणमाह—

य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम् ।
सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः प्रोक्तः[1] स समवायः ॥ ६६ ॥

इस मत में अयुतसिद्ध[2] आधार और आधेय स्वरूप भावों के ज्ञान का कारणभूत जो सम्बन्ध है, वह यहाँ 'समवाय' कहा गया है ॥ ६६ ॥

इह प्रस्तुतमते, अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिह प्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः, यथेह तन्तुषु पट इत्यादि—प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः, यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते, यथा छिदिः क्रिया छेद्येनेति, अयुतसिद्धानामिति । परस्परपरिहारेण पृथगा-

---

१. स हि भवति—पाठा०

२. उन दोनों को अयुतसिद्ध करना चाहिए, जिन दोनो में से एक नष्ट न होता हुआ दूसरे पर आश्रित ही रहता है—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥ तर्कभाषा पृ. २७

श्रयानाश्रितानामाश्रयाश्रयिभाव इति, परस्परवैधर्म्यं तु विविक्तैरभ्यूह्यं, षण्णामपि पदार्थानां स्वरूपकथनमात्राधिकृतत्वाद् ग्रन्थस्य नेह प्रतन्यत इति ॥६६॥

प्रमाणव्यक्तिमाह—

प्रमाणं च द्विधाऽमीषां प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
वैशेषिकमतस्यैवं[1] संक्षेपः परिकीर्त्तितः ॥ ६७ ॥

इनके मत में प्रमाण दो प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष तथा अनुमान।[2] इस प्रकार वैशेषिक मत का संक्षेप कहा गया है ॥ ६७ ॥

यद्यप्यौलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि; तथाऽपि श्रीधरमतापेक्षयाऽत्रोभे एव निगदिते, अमीषां वैशेषिकाणां, प्रमाणं द्विधा द्विप्रकारम्, चः पुनरर्थे, कथमित्याह, प्रत्यक्षमेकं प्रमाणं, तथेति द्वितीयभेदपरामर्शे लैङ्गिकमनुमानम्, उपसंहरन्नाह—एवमिति। एवमिति प्रकारसूचनं, यद्यपि प्रमातृफलाद्यपेक्षया बहु वक्तव्यं, तथाऽप्येवममुना प्रकारेण वैशेषिकमतस्य संक्षेपः कथितः परिकीर्त्तित इति ॥ ६७ ॥

[जैमिनिमतम्]

षष्ठं दर्शनमाह—

जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः ।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ॥६८॥

मीमांसामत वालों ने कहा है कि सर्वज्ञता आदि विशेषणों से युक्त कोई देवता नहीं है जिसके वचनों को प्रमाण माना जाये[3] ॥ ६८ ॥

जैमिनिमुनेरमी इति जैमिनीयाः, पुत्रपौत्राद्यर्थे तद्धित इयप्रत्ययः, जैमिनिशिष्याश्चैक उत्तरमीमांसावादिनः एके पूर्वमीमांसावादिनः, तत्रोत्तरमीमांसावादिनो वेदान्तिनस्ते हि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनव्यसनिनः शब्दार्थखण्डनाय युक्तीः खेटयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वे व्यवतिष्ठन्ते।

यदाहुः—

'अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः॥

---

१. यैष—पाठा०

२. यद्यपि वैशेषिको ने समय-समय पर प्रमाणों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है, कभी दो, कभी तीन और अन्ततः चार भी, किन्तु प्रचलित मर्यादा दो की ही है।

३ मीमांसा में देव विचार के लिए द्रष्टव्य–Sri **P.** V. Kane : Introduction to Purva Mimansa, Poona.

यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।
यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥
एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न वीरधीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥

एवं वादिप्रतिवादिनोः

समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तदस्तु गतिस्तद्वद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥
उपपादयितुं तैस्तैर्मतैराशङ्कनीययोः ।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवा गतिस्तयोः ॥

इत्यादिप्रलयकालानिलक्षुभितचरमसलिलराशिकल्लोलमालानुकारिणः परब्रह्माद्वैतसाधकहेतूपन्यासाः प्रोच्छलन्तश्चतुरचमत्कारं जनयन्तः क्व पर्यवस्यन्ति, तास्तु युक्तयः सूत्रकृतानुल्लिखितत्वाद् ग्रन्थविस्तरभयाच्च नेह प्रपञ्च्यन्तेऽभियुक्तैस्तु खण्डनमहातर्कादवसेयाः ।

पूर्वमीमांसावादिनश्च द्विधा–प्राभाकरा भाट्टाश्च, क्रमेण पञ्चषट्प्रमाणप्ररूपकाः, अत्र तु सामान्येन सूत्रकृत् पूर्वमीमांसावादिन एव जैमिनीयानुदिष्टवान् ।

ते पुनर्जैमिनीयाः प्राहुः—कथयन्ति, कथमित्याह—सर्वज्ञादिविशेषणः कोऽपि देवो न विद्यते यस्य वचो वचनं मानं प्रमाणं भवेत् , सर्वज्ञादिविशेषण इति । सर्वज्ञादिना गुणेन विशेष्य इति, आदिशब्दाद्विभुत्वनित्यत्वचिदात्मकत्वादिविशिष्टः कोऽपि देवो नास्ति यद्वचनं प्रमाणतामनुभवेद्, मानुषतनुत्वाविशेषेण विप्रलम्भकत्वाद् दुष्टपुरुषवत् , सर्वज्ञादिगुणविशिष्टपुरुषाद्यभाव इत्यर्थः ।

अथ किङ्करायमाणसुरासुरसेव्यमानताऽऽद्युपलक्षणेन त्रैलोक्यसाम्राज्यसूचकच्छत्रचामरादिविभुत्वान्यथानुपपत्तेश्चास्ति कश्चित् पुरुषविशेषः सर्वज्ञ इति चेद् ?

न, त्वद्यथोक्तवचनप्रपञ्चोपन्यासैरेव निरस्तत्वाद्, यथा—

'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृष्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्' ॥

अथ यथाऽनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया शोध्यमानस्य निर्मलत्वम् , एवमात्मनोऽपि निरन्तरज्ञानाद्यभ्यासेन विगतमलत्वात् किं न सम्भवेदिति मतिः ? तदपि न–ह्यभ्यासमात्रसाम्ये शुद्धेरपि तदेव तादवस्थ्यम् ।

यदुक्तम्—

'गरुत्मच्छाखामृगयोर्लङ्घनाभ्याससम्भवे ।
समानेऽपि समानत्वं लङ्घनस्य न विद्यते ॥'

न च सुतरां चरणशक्तिमानपि पङ्गुरखर्वपर्वतशिखामधिरोढुं क्षमः।
उक्तञ्च—

'दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि'॥

अथ मा भवतु मानुषस्य सर्वज्ञत्वं, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनामस्तु, ते हि देवाः, सम्भवत्यपि तेष्वतिशायिसम्पद्।

यदाह कुमारिलः—

'अथापि वेदहेतुत्वाद्[1] ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम्॥'

एतदपि न रागद्वेषमूलनिग्रहानुग्रहग्रस्तानां सम्भाव्योन्मेषमिति, न च प्रत्यक्षं तत्साधकं-'सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिने'ति वचनाद्, न चानुमानं-प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थे तत्प्रवृत्तेः, न चागमः-सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तस्य विवादास्पदत्वाद्, न चोपमानं-तदभावादेव, अर्थापत्तिरपि न—सर्वज्ञसाधकस्यान्यथाऽनुपपन्नलिङ्गस्यादर्शनाद्, यदि परमभावप्रमाणगोचरः सर्वज्ञ इति स्थितम्—

प्रयोगश्चात्र-नास्ति सर्वज्ञः, प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्, शशशृङ्गवदिति॥ ६८॥

अथ कथं यथाऽवस्थिततत्त्वनिर्णयः ? इत्याह—

तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षात् द्रष्टुरभावतः।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथाऽर्थत्वविनिश्चयः॥६९॥

अतः इन्द्रिय गोचर न होने वाले पदार्थों के प्रत्यक्ष द्रष्टा के अभाव में नित्य वेद वाक्यों से यथार्थता का निर्धारण किया जाता है॥ ६९॥

तस्मात्प्रामाणिकपुरुषाभावादतीन्द्रियार्थानां चक्षुरगोचरपदार्थानां साक्षाद् द्रष्टुर्ज्ञात्रादेः पुरुषस्याभावाद् नित्येभ्यः शाश्वतेभ्यो वेदवाक्येभ्योऽपौरुषेयवचनेभ्यो यथाऽर्थतत्त्वविनिर्णयो यथाऽवस्थितपदार्थधर्मादिस्वरूपविवेचनं 'भवती'त्यध्याहारः, अपौरुषेयत्वं च वेदानाम्—

'अपाणिपादो[2] ह्यमनोगृहीतः पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्'॥
श्वेता० उ०॥ ३।१९॥

इत्यादिभावनया रागद्वेषादिदोषतिरस्कारपूर्वकं भावनीयमिति॥ ६९॥

अथ यथाऽवस्थितार्थव्यवस्थापकं तत्त्वोपदेशमाह—

अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः प्रयत्नतः।

---

१. दिव्यदेहत्वात्—पाठा०   २. जवनो—पाठा०

ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्त्तव्या धर्मसाधनी ॥७०॥

इसलिए सर्वप्रथम प्रयास करके वेद पढ़ना चाहिए, उसके पश्चात् धर्म को सिद्ध करने वाली धर्मजिज्ञासा करनी चाहिए ॥ ७० ॥

यतो हेतोर्वेदाभिहितानुष्ठानादेव तत्त्वनिर्णयः, अत एव पुरा पूर्वं प्रयत्नतो यत्नाद्वेदपाठः कार्यः, ऋग्यजुःसामाथर्वाणो वेदास्तेषां पाठः कण्ठपीठलुठत्पाठ-प्रतिष्ठा, नानुश्रवणमात्रेण सम्यगवबोधस्थिरता, ततोऽनन्तरं साधनीयपुण्योप-चयहेतुर्धर्मस्य हेयोपादेयस्वरूपस्य वेदाभिहितस्य जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा कर्त्तव्या विधेया, वेदोक्ताभिधेयविधाने यतितव्यमित्यर्थः ॥ ७० ॥

वेदोक्तधर्मोपदेशमेवाह—

[1]नोदनालक्षणो धर्मो, नोदना तु क्रियां प्रति ।
प्रवर्त्तकं वचः प्राहुः स्वःकामोऽग्निं यजेद्यथा ॥७१॥

धर्म का लक्षण है प्रवर्तना, क्रिया के प्रति प्रवृत्ति कराने वाले शब्द को प्रवर्तना (नोदना) कहा गया है। जैसे—'स्वर्गकामोऽग्निं यजेत'—'स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र याग करे' ॥ ७१ ॥

नोदनैव लक्षणं यस्य स नोदनालक्षणो धर्मः, तत्स्वरूपमेव सूत्रकृदाह—तु पुनर्नोदनां क्रियां प्रवर्त्तकं वचः प्राहुः, वेदोक्तस्वर्गादिसाधकाम्नायस्य क्रिया-प्रवर्त्तकं वचनं नोदनामाहुरित्यर्थः, शिष्यानुकम्पया तत्सूत्रेणैव दृष्टान्तयन्नाह—स्वःकामोऽग्निं यजेद्यथा, यथा येन प्रकारेण स्वःकामः स्वर्गाभिलाषी जनोऽग्निं यजेद् अग्निकार्यं कुर्यात्, यथाऽहुस्तत्सूत्रम्—अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति ।

प्रमाणान्याह—

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दश्चोपमया सह ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ ७२ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, और उपमान के साथ शब्द, अर्थापत्ति और अभाव ये छः जैमिनि के प्रमाण हैं ॥ ७२ ॥

जैमिनेः पूर्ववेदान्तवादिनः, षट् प्रमाणानि ज्ञेयानीति सम्बन्धः, यद्यपि प्राभाकराणां मते पञ्च प्रमाणानि, भाट्टानामेव षट्, तथाऽप्यत्र ग्रन्थकृत्सा-मान्यतः षट्सङ्ख्यामाचष्टे—

प्रमाणनामानि निगदसिद्धान्येव ॥ ७२ ॥

---

१. चोदनालक्षणो धर्मः—पाठान्तरम् ।

२. यथायजेत्—पाठा०

३. शाब्दं चोपमया सह—पाठा०

निरुक्तमाह्—

तत्र प्रत्यक्षमक्षाणां संप्रयोगे सतां मतिः।
आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः ॥ ७३ ॥

इन छः प्रमाणों में से इन्द्रियों का (पदार्थों के साथ) संयोग होने पर शुद्ध इन्द्रियों वाले पुरुषों में होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण[१] है। आत्मा में (इन्द्रियों का अर्थ से संयोग न होने पर भी) ज्ञान का उत्पन्न होना अनुमान प्रमाण है ॥ ७३ ॥

तत्र प्रमाणषट्के, अक्षाणामिन्द्रियाणां सम्प्रयोगे पदार्थैः सह संयोगे; सतामनुपहतेन्द्रियाणां मतिर्बुद्धिरिदमित्यवबोधः, तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं 'भवती' त्यध्याहारः, यत्तदावनुक्तावप्यर्थसम्बद्धौ ज्ञेयौ, सतामिति-विदुषासदुष्टेन्द्रियार्थः, एतावता मरुमरीचिकायां जलभ्रमः, शुक्तौ रजतभ्रमश्चेन्द्रियार्थसम्प्रयोगजोऽपि द्रष्टुरविकलेन्द्रियत्वाभावान्न प्रत्यक्षं तत्प्रमाणकोटिमधिशेते। अनुमानमाह—'आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः' आत्मा यदनुमिमीते स्वयं तदनुमानमित्यर्थः, अनुमानलैङ्गिकयोः शब्दाभेदेऽप्यनुमीयत इत्यनुमानं, लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकमिति व्युत्पत्तिभेदाद् भेदो ज्ञेयः, उभयशब्दकथनं तु बालावबोधार्थमेवेति ॥ ७३ ॥

शाब्दं शाश्वतवेदोत्थमुपमानं प्र कीर्त्तितम्[२]।
प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य भाजनम्[३] ॥७४॥

नित्य वेदों से उत्पन्न ज्ञान शाब्दप्रमाण है। सर्वसाधारण को ज्ञात पदार्थ के सादृश्य के आधार पर अज्ञात विषय का ज्ञान हो जाना उपमान कहा गया है ॥ ७४ ॥

---

१. यह अर्थ मणिभद्र के अनुसार है—गुणरत्न के अनुसार यह होगा।'- विद्यमान वस्तुओं का सम्बन्ध होने पर जीव को इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। हेतु से प्राप्य ज्ञान अनुमान है।' यही अर्थ उचित भी है। गुणरत्न की टीका का अपेक्षित अंश इस प्रकार है—'तत्र इति निर्धारणार्थः। इयमत्राक्षरघटना। सतां संप्रयोगे सति आत्मनोऽक्षाणां बुद्धिजन्म प्रत्यक्षमिति। श्लोके तु बन्धानुलोम्येन व्यस्तनिर्देशः। सतां विद्यमानानां वस्तूनां सम्बन्धिनि प्रयोगे सम्बन्धे सति आत्मनो जीवस्येन्द्रियाणां यो बुद्धयुत्पादः, तत्प्रत्यक्षमिति। सतामित्यत्र सत इत्येकवचनेनैव प्रस्तुतार्थसिद्धौ षष्ठी-बहुवचनाभिधानम्। बहूनामप्यर्थानां सम्बन्ध इन्द्रियस्य संयोगः क्वचन भवतीति ज्ञापनार्थम्। अत्र जैमिनीयं सूत्रमिदं—"संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् इति। व्याख्या। सता विद्यमानेन वस्तुनेन्द्रियाणां संप्रयोगे सम्बन्धे सति पुरुषस्य यो ज्ञानोत्पादः तत्प्रत्क्षम् गुणरत्नटीका पृ. २९०–९१

२. तु—पाठा०

३. साधनम्—पाठा०

शाब्दमागमप्रमाणं शाश्वतवेदोत्थं, शाश्वतान्नित्याद्वेदाज्जातम् , आगमप्रमाणमित्यर्थः, शाश्वतत्वं च वेदानामपौरुषेयत्वादेव । उपमानमाह—यत्प्रसिद्धार्थस्य प्रतीतपदार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य वस्तुनः साधनं तदुपमानं प्रमाणं प्रकीर्त्तितं कथितम् , यथा प्रसिद्धगोगवयस्वरूपो वनेचरोऽप्रसिद्धगवयस्वरूपं नागरिकं प्राह—'यथा गौस्तथा गवय' इति, भोः ! खुरककुदलाङ्गूलसास्नाऽऽदिमन्तं पदार्थं गामिति जानासि; गवयोऽपि तथा स्वरूपो ज्ञेय इत्युपमानम् , अत्र सूत्रानुक्तावपि यत्तदावर्थसम्बन्धार्थमध्याहार्यौ ॥ ७४ ॥

अर्थापत्तिमाह—

दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्याप्यर्थस्य कल्पना ।
क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ॥ ७५ ॥

प्रत्यक्ष दृष्ट पदार्थ के अनुपपन्न होने पर जिसके आधार पर किसी भी अर्थ का आक्षेप किया जाता है उसे अर्थापत्ति कहा जाता है ॥ ७५ ॥

असौ पुनरर्थापत्तिरुदाहृता कथिता, अर्थापत्तिप्रमाणं प्रोक्तमित्यर्थः । यद्बलेन कस्याप्यदृष्टस्यार्थस्य कल्पना क्रियते सङ्घटना विधीयते, कया दृष्टार्थानुपपत्त्या दृष्टः परिचितः प्रत्यक्षलक्ष्यो योऽर्थो देवदत्ते पीनत्वादिः तस्यानुपपत्त्याऽघटमानतयाऽन्यथाऽनुपपत्तेः, यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या रात्राववश्यं भुङ्क्त इत्यर्थ इत्यत्र, दृष्टं विना भोजनं पीनत्वं दुर्घटं, दिवा च न भुङ्क्तेऽतो रात्राववश्यमदृष्टं भोजनं ज्ञापयतीत्यर्थापत्तिः प्रमाणम् ॥ ७५ ॥

अर्थाभावप्रमाणमाह—

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥ ७६ ॥

जहाँ वस्तुरूप पदार्थ में पाँचो प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो पाते, वहाँ वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान कराने के लिए 'अभाव' को प्रमाणरूप में माना जाता है ॥ ७६ ॥

यत्र वस्तुरूपेऽभावादौ पदार्थे प्रमाणपञ्चकं पूर्वोक्तं न जायते, तत्राभावप्रमाणता ज्ञेयेति सम्बन्धः, किमर्थमित्याह—वस्तुसत्ताऽवबोधार्थम् , वस्तुनोऽभावरूपस्य मुण्डभूतलादेः सत्ता घटाद्यभावसद्भावः तस्यावबोधः प्रामाणिकपथावतारणं तदर्थं तद्धेतोरित्यर्थः ।

ननु कथमभावस्य प्रामाण्यं, प्रत्यक्ष—तावद्भूतलमेवेदं घटादि न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकद्वारेण वस्तुपरिच्छेदः, तदधिकं विषयमभावैकरूपं निराचष्ट इति, किं विषयमाश्रित्याभावप्रामाण्यं स्याद् मुण्डभूतले घटाभावमाश्रित्येति चेद् ? मैवम्—घटाभावप्रतिबद्धभूतलग्रहणासिद्धेः ।

तदुक्तम्--

'न तावदिन्द्रियेणैषां नास्तीत्युत्पद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया' ॥

इति नास्तिताज्ञानग्रहणावसरे प्रामाण्यमेवाभावस्य, केवलं भावांश इन्द्रियसन्निकर्षजत्वेन पञ्चप्रमाणागोचरसञ्चरिष्णुतामनुभवन्नाबालगोपालाङ्गनाप्रसिद्धं व्यवहारं प्रवर्त्तयति, अभावांशस्तु प्रमाणपञ्चकविषयबहिर्भूतत्वात्केवलभूतलग्रहणाद्युपयोगित्वादभावप्रमाणव्यपदेशमश्नुत इति सिद्धमभावस्यापि युक्तियुक्ततया प्रामाण्यमिति ॥ ७६ ॥

उपसंहरन्नाह--

जैमिनीयमतस्यापि संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्त्तनम् ॥ ७७ ॥

जैमिनि के मत का भी यह संक्षेप उपस्थित किया गया। इस प्रकार आस्तिक मतों का संक्षेप में कथन किया गया ॥ ७७ ॥

अपिशब्दान्न केवलमपरदर्शनानां, जैमिनीयमतस्याप्ययं सङ्क्षेपो निवेदितः कथितः, वक्तव्यस्य बाहुल्याट्टीकामात्रे सामस्त्यकथनायोगात् सङ्क्षेप एव प्रोक्तोऽस्ति ।

अथ सूत्रकृत्सम्मतसङ्क्षेपमुक्त्वा निगमनमाह—एवमिति । एवमित्थम्, आस्तिकवादिनामिह परलोकगतिपुण्यपापास्तिक्यवादिनां बौद्धनैयायिकसाङ्ख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां सङ्क्षेपकीर्त्तनं कृतं, सङ्क्षेपेण वक्तव्यमभिहितमित्यर्थः ॥ ७७ ॥

विशेषान्तरमाह—

नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥ ७८ ॥

कुछ लोग नैयायिकों के मत का वैशेषिकों के साथ अन्तर नहीं मानते।[1] उनके मत में पाँच ही आस्तिक[2] दर्शन हैं ॥ ७८ ॥

---

१. कणाद और गौतम के सूत्रों तथा प्रशस्तपाद और वात्स्यायन के भाष्यों में तथा उनके अनुयायियों के ग्रन्थों में दोनों सम्प्रदायों का अन्तर दृष्टिगोचर होता है, किन्तु परवर्ती काल में विश्वनाथ आदि ने वैशेषिक-तत्त्वों में न्याय के तत्त्वों का तथा केशवमिश्र आदि ने न्याय के तत्त्वों में वैशेषिक के प्रतिपाद्यों का अन्तर्भाव करके दोनों में एकरूपता का प्रयास किया।

२. वस्तुतः बौद्ध और जैन आस्तिक नहीं माने जाते हैं, किन्तु मणिभद्र के अनुसार (द्रष्टव्य टीका) आस्तिक का अर्थ करने पर, असंगति नहीं रहती।

अन्य आचार्या नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं न मन्यन्ते दर्शनाधिष्ठात्रेकदैवतत्वात् पृथग्दर्शनं नाभ्युपगच्छन्ति, तेषां मतापेक्षयाऽऽस्तिकवादिनः पञ्चैव ॥ ७८ ॥

दर्शनानां षट्सङ्ख्या जगति प्रसिद्धा कथं फलतीत्याह—

षड्दर्शनसङ्ख्या तु पूर्यते तन्मते किल ।
लोकायतमतक्षेपा[1]त्कथ्यते तेन तन्मतम् ॥ ७९ ॥

उनके मत में भी लोकायतमत[2] का सन्निवेश करके दर्शन की छठीं संख्या पूरी की जा रही है । इसलिए उस (लोकायत) मत को कहा जा रहा है ॥ ७९ ॥

ये नैयायिकवैशेषिकयोरेकरूपत्वेनाभेदं मन्यमाना दर्शनपञ्चकमेवाचक्षते, तन्मते षड्दर्शनसङ्ख्या लोकायतमतक्षेपात्पूर्यते, तु पुनरर्थे, किलेति परमाप्ताम्नाये, तेन कारणेन तन्मतं चार्वाकमतं कथ्यते तत्स्वरूपमुच्यत इति ॥७९॥

[चार्वाकमतम्]

तदेवाह—

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो[3] न निर्वृतिः ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ॥ ८० ॥

लोकायत मत वाले इस प्रकार कहते हैं कि न तो देवता होते है और न मोक्ष । धर्म और अधर्म का अस्तित्व नहीं है और न पुण्य तथा पाप का कोई फल होता है ॥८०॥

लोकायता नास्तिकाः, एवममुना प्रकारेण वदन्ति कथमित्याह—सर्वज्ञादिर्नास्ति, निर्वृतिर्मोक्षो नास्ति, अन्यच्च न विद्येते, कौ ? धर्माधर्मौ, धर्मश्चाधर्मश्चेति द्वन्द्वः, पुण्यपापे न स्त इत्यर्थः, पुण्यपापयोर्धर्माधर्मयोः फलं स्वर्गनरकादिरूपं नेति नास्ति, तदपि पुण्यपापयोरभावे कौतस्त्यं तत्फलमित्यादि ।

तच्छास्त्रोक्तमेव सोल्लुण्ठं दर्शयन्नाह—तथा च तन्मतं-तथा चेत्युपदर्शने, तन्मतं, प्रस्तावान्नास्तिकमतम् ॥ ८० ॥

---

१. क्षेपे—पाठा०

२. "······नीतिकामशास्त्रानुसारेण अर्थकामौ एव पुरुषार्थौ मन्यमानाः पारलौकिकमर्थम् अपह्नुवानाः, चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते । अत एव तस्य चार्वाकमतस्य 'लोकायतम्' इत्यन्वर्थम् अपरं नामधेयम् ।" माधवाचार्यः सर्वदर्शनसंग्रह पृ. ३ चौ. वि. भ., वाराणसी ।

'तन्नामानि चार्वाका लोकायता इत्यादीनि । गलचर्व अदने । चर्वन्ति भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाकाः । मावाकश्यामाकेत्यादिसिद्धहैमोणादिदण्डकेन शब्दनिपातनम् । लोका निर्विचाराः सामान्या लोकास्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता लोकायतिका इत्यपि । बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति । गुणरत्नटीका पृ. ३०० ।

३. जीवो—पाठा०

कथमित्याह—

एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे ! वृकपदं पश्य यद्वदन्ति[1] बहुश्रुताः ॥ ८१ ॥

यह जगत् केवल इतना ही है जितना कि दिखलाई पड़ता है। जिसे बहुज्ञ लोग कहते हैं उसे "हे सुन्दरि[2] ! भेड़िये के पदचिह्न देखो"[3] की भाँति है। अर्थात्

१. यद्वदन्त्यबहुश्रुताः—पाठा०

२. भद्रे, जातशोभने, वराङ्गि आदि सम्बोधन-पदो का प्रयोग वक्ता की सन्निधि में कामिनी की उपस्थिति बतला कर इस मत में कामोपभोग का महत्त्व व्यञ्जित किया गया है। अन्यदर्शनों के प्रसङ्ग में इस प्रकार के सम्बुद्धिपदों का अभाव है।

३. इस प्रयोग के लिए गुणरत्न की भी टीका देखें—

अथ ये परोक्षे विषयेऽनुमानागमादीनां प्रामाण्येन जीवपुण्यपापादिकं व्यवस्थापयन्ति न जातुचिद्विरमन्ति, तान् प्रबोधयितु दृष्टान्तं प्राह 'भद्रे; वृकपदं पश्य' इति। अत्रायं सम्प्रदायः। कश्चित्पुरुषो नास्तिकमतवासनावासितान्तःकरणो निजां जायामास्तिकमतनिबद्धमतिं स्वशास्त्रोक्तयुक्तिभिरभियुक्तः प्रत्यहं प्रतिबोधयति। सा तु यदा न प्रतिबुध्यते तदा स इयमनेनोपायेन प्रतिभोत्स्यत इति स्वचेतसि विचिन्त्य निशायाः पश्चिमे यामे तया समं नगरान्निर्गत्य तां प्रत्यवादीत्। "प्रिये ! य इमे नगरवासिनो नराः परोक्षविषयेऽनुमानादिप्रामाण्यमाचक्षाणा लोकेन च बहुश्रुततया व्यवह्रियमाणा विद्यन्ते, पश्य तेषां चारुविचारणामयं चातुर्यम्' इति। ततः स नगरद्वारादारभ्य चतुःपथं यावन्मन्थरतरप्रसृमरसमीरणसमीभूतपांशुप्रकरे राजमार्गे द्वयोरपि स्वकरयोरङ्गुष्ठप्रदेशिनीमध्यमाङ्गुलित्रयं मीलयित्वा स्वशरीरस्योभयोः पक्षयोः पांशुषु न्यासेन वक्रपदानि प्रचक्रे। ततः प्रातःतानि पदानि निरीक्ष्यास्तिको लोको राजमार्गेऽमिलत्। बहुश्रुता अपि तत्रागता जनान् प्रत्यवोचन् 'भो भो वृकपदानामन्यथानुपपत्या नूनं निशि वृकः कश्चन वनतोऽत्रागच्छत्, इत्यादि। ततः स तांस्तथाभाषमाणान् निरीक्ष्य निजां भार्यां जजल्प। हे भद्रे प्रिये वृकपदं (अत्र जातावेकवचनं) पश्य निरीक्षस्व। किं तदित्याह। यद्वृकपदं वदन्ति जल्पन्ति अबहुश्रुता लोकरूढ्या बहुश्रुता अप्येते परमार्थमज्ञात्वा भाषमाणा अबहुश्रुता एवेत्यर्थः। यद्वदन्ति बहुश्रुता इति पाठे त्वेवं व्याख्येयम्। लोकप्रसिद्धा बहुश्रुता इति तथा ह्येते वृकपदविषये सम्यगविदितपरमार्था बहवोऽप्येकसदृशमेव भाषमाणा अपि बहुमुग्धजनध्यान्ध्यमुत्पादयन्तोऽपि च ज्ञाततत्त्वानामादेयवचना न भवन्ति, तथा बहवोऽप्यमी वादिनो धार्मिकछद्मधूर्ताः परवञ्चनैकप्रवणा यत्किंचिदनुमानागमादिभिर्दाढर्ग्यमादर्श्य जीवाद्यस्तित्वं सदृशमेव भाषमाणा अपि मुधैव मुग्धजनान् स्वर्गादिप्राप्तिलभ्यसुखसंततिप्रलोभनया भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यहेयोपादेयादिसंकटे पातयन्तो बहुमुग्धधार्मिकव्यामोहमुत्पादयन्तोऽपि च सतामवधीरणीयवचना एव भवन्तीति। ततः सा पत्युर्वचनं सव मानितपती।" गुणरत्नटीका पृ. ३०३–३०४

परलोक आदि के विषय में वेदज्ञों का कथन विना अनुभव का ही है, अवास्तविक है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ८१ ॥

अयं लोकः संसार एतावानेव एतावन्मात्र एव यावान् यावन्मात्रमिन्द्रिय-गोचरः; इन्द्रियं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रभेदात्पञ्चविधं तस्य गोचरो विषयः, पञ्चेन्द्रियव्यक्तीकृतमेव वस्त्वस्ति नापरं किंचन, अत्र लोकग्रहणाल्लोकस्थ-पदार्थसार्थस्य संग्रहः।

तथा परे पुण्यपापसाध्यं स्वर्गनरकाद्याहुः, तदप्रमाणं प्रत्यक्षाभावादेव, अप्रत्यक्षमप्यस्तीति चेच्छशशृङ्गवन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु।

तथा हि–स्पर्शनेन्द्रियेण तावन्मृदुकठोरशीतोष्णस्निग्धरूक्षादिभावा उप-लभ्यन्ते।

रसनेन्द्रियेण कटुकषायाम्लमधुरास्वादलेह्यचूष्यपेयादयो वेद्यन्ते।

घ्राणेन्द्रियेण मृगमदमलयजघनसारागुरुप्रभृतिसुरभिवस्तुपरिमलोद्‌गार-परम्पराः परिचीयन्ते।

चक्षुरिन्द्रियेण भूभूधरपुरप्राकारघटपटस्तम्भाम्भोरुहादिमनुष्यपशुश्वापदा-दिस्थावरजङ्गमपदार्थसार्था अनुभूयन्ते।

श्रोत्रेन्द्रियेण ग्रथिष्ठगाथकपथिकप्रथ्यमानतालमानमूर्च्छनाप्रेङ्खोलनाखेल-न्मधुरध्वनय आकर्ण्यन्ते।

इति पञ्चप्रकारप्रत्यक्षदृष्टमेव वस्तुतत्त्वं प्रमाणपदवीमवगाहते, शेषप्रमाणा-नामनुभवाभावादेव निरस्तत्वाद् गगनकुसुमवत्।

ये चास्पृष्टमनास्वादितमनाघ्रातमदृष्टमश्रुतमप्याद्रियमाणाः स्वर्गमोक्षा-दिसुखपिपासाऽनुबन्धचेतोवृत्तयो दुश्चरतरतपश्चरणादिकष्टपिष्टिकया स्वजन्म क्षपयन्ति तन्महासाहसं तेषामिति।

किं च–प्रत्यक्षमप्यस्तितयाऽभ्युपगम्यते चेज्जगदनपह्नुतमेव स्याद्, दरिद्रो हि स्वर्णराशिर्मेऽस्तीत्यनुध्याय हेलयैव दौःस्थ्यं दलयेद्, दासोऽपि स्वचेतसि स्वामितामवलम्ब्य किङ्करतां निराकुर्यादिति, न कोऽपि स्वानभिमतमालिन्य-मश्नुवीत।

एवं न कश्चित्सेव्यसेवकभावो दरिद्रधनिभावो वा स्यात्, तथा च जगद्-व्यवस्थाविलोपप्रसङ्ग इति सुस्थितमिन्द्रियगोचर एव प्रमाणम्।

ये चानुमानागमादिप्रामाण्यमनुमन्वानाः पुण्यपापव्यापारप्राप्यस्वर्गनर-कादिसुखासुखं व्यवस्थापयन्तो वाचाटा न विरमन्ति तान् प्रति दृष्टान्तमाह–

भद्रे वृकपदं पश्येति। यथा हि कश्चित्पुरुषो वृकपददर्शनससुद्‌भूतकुतूहलां दयितां मन्थरतरप्रसृमरसमीरणसमीकृतपांशुप्रकारस्वाङ्गुलिन्यासेन वृकप-दाकारतां विधाय प्राह–हे भद्रे! वृकपदं पश्य, कोऽर्थः? यथा तस्या अविदित-

परमार्थाया मुग्धाया विदग्धो वल्लभो वृकचरणनिरीक्षणाग्रहं कराङ्गुलिन्यासमात्रेण प्रलोभ्य पूरितवान्, एवममी अपि धर्मच्छद्मधूर्त्ताः परवञ्चनप्रवणा यत् किंचिदनुमानागमादिदार्ढ्यमादर्श्य व्यर्थं मुग्धजनान् स्वर्गादिप्राप्तिलभ्यभोगाभोगप्रलोभनया भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यहेयोपादेयादिसङ्कटे पातयन्ति, मुग्धधार्मिकान्ध्यं चोत्पादयन्ति, एवमेवार्थं प्रमाणकोटिमधिरोपयन्तश्च यद्बहुश्रुताः परमार्थवेदिनो वदन्ति, वक्ष्यमाणपद्येनेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

पिब खाद च जातशोभने[1] ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥८२॥

हे सुन्दरि, पियो और खाओ, हे श्रेष्ठ अङ्गों वाली, जो बीत गया वह तुम्हारा नहीं क्योंकि हे भीरु ! जो बीत गया वह लौट कर नहीं आयेगा । यह शरीर (चार महाभूतों का) समूह मात्र है ॥ ८२ ॥

हे जातशोभने ! भावप्रधानत्वान्निर्देशानां, जातं शोभनत्वं वदननयनादिसत्त्वं यस्याः सेति तत्सम्बोधनम्, पिब पेयापेयव्यवस्थावैसंष्ठुल्येन मदिरादेः पानं कुरु, न केवलं पिब, खाद च, भक्ष्याभक्ष्यनिरपेक्षतया मांसादिकं भक्षय, यद्वा पिबेत्यधरादिपानं कुरु, खादेति भोगानुपभुङ्क्ष्वेति काम्युपदेशः, स्वयौवनं सफलीकुर्वित्यर्थः ।

अथ सुलभमेव पुण्यानुभावाद्भवान्तरेऽपि शोभनत्वमिति परोक्तमाशङ्क्याह—वरगात्रि ! यदतीतम्, अतिक्रान्तं यौवनादि तत्ते तव भूयो न; किंतु जराजीर्णत्वमेव भविष्यतीत्यर्थः, जातशोभनेवरगात्रीतिसम्बोधनयोः समानार्थयोरप्यादरानुरागातिरेकान्न पौनरुक्त्यं दोषः ।

तदुक्तम्—

'अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु ।
ईषत्सम्भ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥'

ननु स्वेच्छयाऽविच्छिन्नं खादने पाने दुस्तरा परलोककष्टपरंपरा, सुलभं भवति सुकृतसञ्चये भवान्तरेऽपि यौवनादिकमिति पराशङ्कां दूषयन्नाह—न हि भीरु गतं निवर्तते, हे भीरु ! परोक्तमात्रेण नरकादिप्राप्यदुःखभयाकुले ! गतम्, इह भवातिक्रान्तं सुखयौवनादि न निवर्त्तते परलोके नाढौकते परलोकसुखाकांक्षया तपश्चरणादि-कष्टक्रियाभिरिहत्यसुखोपेक्षा व्यर्थेत्यर्थः ।

अथ जन्यजनकसम्बन्धसद्भावादमुना कायेन परलोकेऽपि सहेतुकं सुखदुःखादिकं वेदितव्यमवश्यमेवेति चेद् ? आह—समुदयमात्रमिदं कलेवरम्, इदं कलेवरं शरीरं समुदयमात्रं समुदयो मेलः वक्ष्यमाणचतुर्भूतानां संयोगस्तन्मात्रं मात्रशब्दोऽवधारणे भूतचतुष्टयसम्बन्ध एव कायो, न च

१. चारुलोचने—पाठा०

पूर्वभवादिशुभाशुभकर्मविपाकवेद्यसुखदुःखादिसव्यपेक्ष इत्यर्थः, संयोगाश्च तरुशिखरावलीलीनशकुनिगणवत् क्षणतो विनश्वरास्तस्मात् परलोकानपेक्षया यथेच्छं पिब खाद चेति वृत्तार्थः ॥ ८२ ॥

चैतन्यमाह—

किं च पृथ्वी जलं[1] तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम् ।
चैतन्य[2]भूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि ॥ ८३ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत ही चेतना की उत्पत्ति के कारण हैं। इनका प्रमाण तो प्रत्यक्ष ही है ॥ ८३ ॥

किं चेत्युपदर्शने, पृथ्वी भूमिः, जलमापः, तेजो वह्निः, वायुः पवन, इति भूतचतुष्टयं तेषां चार्वाकाणां चैतन्यभूमिः चैतन्योत्पत्तिकारणं चत्वार्यपि भूतानि संभूय सपिण्डं चैतन्यं जनयन्तीत्यर्थः । तु पुनः, मानं प्रमाणं हि निश्चितम् अक्षजमेव प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

ननु भूतचतुष्टयसंयोगजदेहचैतन्योत्पत्तिः कथं प्रतीयताम् ? इत्याशङ्क्याह—

पृथ्व्यादिभूतसंहत्यां तथा देहादिसम्भवः[3] ।
मदशक्तिः सुराऽङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत्स्थिताऽऽत्मता[4] ॥८४॥

पृथ्वी आदि भूतों के संयोग से देह आदि की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार मद्य के घटक तत्त्वों से मत्त करने की शक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार (भूतचतुष्टय के संयोग से शरीर में) आत्मता—आत्मा नामक चेतना होती है ॥ ८४ ॥

पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाणि यानि भूतानि तेषां संहत्यां मेले संयोगे सति; तथेत्युपदर्शने देहादिसम्भवः, आदिशब्दादितरे भूधरादिपदार्था अपि चतुष्टयसंयोगजाता एव ज्ञेयाः, दृष्टान्तमाह—यद्वद् येन प्रकारेण सुराङ्गेभ्यो गुडधातक्यादिभ्यो मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिरुन्मादकत्वं भवति, तद्वत्तथा भूतचतुष्टयसम्बन्धात् शरीरे आत्मता स्थिता सचेतनत्वं जातमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

इति स्थिते तदुपदेशपूर्वकमुपसंहारमाह—

तस्माद् दृष्टपरित्यागाददृष्टे च प्रवर्तनम् ।[5]
लोकस्य तद्विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ॥८५॥

---

१. पृथ्वी जलं तथा—पाठा० २. आधारो भूमि—पाठा०
३. देहपरीणतेः—पाठा० ४. यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि—पाठा०
५. तस्माद् दृष्टपरित्यागाद् यददृष्टे प्रवर्तनम् । पाठा०

इसलिए प्रत्यक्ष का परित्याग कर अनदेखी वस्तुओं में लोक की जो प्रवृत्ति है, उसको चार्वाकों ने लोक की अज्ञता प्रतिपादित की है ॥ ८५ ॥

तस्मादिति पूर्वोक्तानुस्मारणे, पूर्वं तस्मात्ततः कारणाद् दृष्टपरित्यागाद् दृष्टं पेयापेयखाद्याखाद्यगम्यागम्यानुरूपं प्रत्यक्षानुभाव्यं यत्सुखं; तस्य परित्यागाददृष्टे तपश्चरणादिकष्टक्रियासाध्यपरलोकसुखादौ प्रवर्तनं प्रवृत्तिः, चः समुच्चये, यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद्यत्सम्बन्धो ज्ञेयः, तल्लोकस्य विमूढत्वमज्ञानत्वं चार्वाकाः लौकायतिकाः प्रतिपेदिरे प्रतिपन्नाः, मूढलोका हि विप्रतारकवचनोपन्यासभाषितज्ञानाः सांसारिकं सुखं परित्यज्य व्यर्थं स्वर्गं मोक्षपिपासया तपोजपध्यानहोमादिभिरिहत्यं सुखं हस्तगतमुपेक्षन्त इति ॥ ८५ ॥

साध्यावृत्तिनिवृत्तिभ्यां[1] या प्रीतिर्जायते जने ।
निरर्था सा मता तेषां सा चाकाशात् परा न हि[2] ॥८६॥

काम्य की प्राप्ति और (अनभीष्ट के) अभाव दोनों से प्राणी में जो सुख उत्पन्न होता है, वह उनके मत में व्यर्थ अथवा निर्हेतुक है। यह सुखानुभूति आकाश अर्थात् शून्य से भिन्न नहीं, (वह कुछ नहीं है)[3] ॥ ८६ ॥

साध्यस्य मनीषितस्य कस्यचिद्वस्तुन आवृत्तिः प्राप्तिः, कस्यचिद्वस्तुनोऽनभीष्टस्य निवृत्तिरभावः, ताभ्यां जने लोके या प्रीतिर्जायत उत्पद्यते सा तेषां चार्वाकाणां निरर्थिका निरभिप्राया शून्या मताऽभीष्टा भवार्जितपुण्यपापसाध्यं सुखदुःखादिकं सर्वथा न विद्यत इत्यर्थः, सा च प्रीतिराकाशाद् गगनात् परा न, हि यथाऽऽकाशं शून्यं तथैषाऽपि प्रीतिरभावरूपैवेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

---

१. साध्यवृत्ति—पाठा०

२. निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात्परो न हि । पाठा०

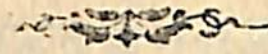
३. गुणरत्न ने कारिका का अर्थ इस प्रकार दिया है—

"साध्यं ध्यानं द्वेधा, उपादेयं हेयं च। उपादेये धर्मशुक्लध्यानयुगे हेये चार्तरौद्रध्यानयुगे। अथवा साध्ये साधनीये कार्ये, उपादेये पुण्यकृत्ये तपःसंयमादौ, हेये च पापकृत्ये विषयसुखादिके क्रमेण वृत्तिनिवृत्तिभ्यां जने लोके या प्रीतिर्मनःसुखं जायते समुत्पद्यते, सा तेषां चार्वाकाणां मते निरर्था निष्प्रयोजना निःफलातात्त्विकीत्यर्थः। हि यस्मात् धर्मः कामाद्विषयसुखसेवनात् न परः।...अथवा ये धर्मप्रभावादिह लोकेऽपीष्टानिष्टकार्ययोः सिद्ध्यसिद्धी वदन्ति, तान् प्रति यच्चार्वाका जल्पन्ति तद्दर्शयन्नाह—'साध्यवृत्तिभ्याम्' इत्यादि। तपोजपहोमादिभिः साध्यस्य प्रेप्सितकार्यस्य या वृत्तिः सिद्धिर्या च तैरेव तपोजपादिभिरनिष्टस्य साध्यस्य विघ्नादेर्निवृत्तिरसिद्धिरभाव इति यावत्ताभ्यां साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या जने प्रीतिर्जायते सा निरर्था। अर्थशब्दोऽत्र हेत्वर्थस्यापि भावान्निर्हेतुका निर्मूला।" पृ. ३०९ ॥

उपसंहारमाह—

लोकायतमतेऽप्येवं संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः ॥ ८७ ॥

इति हरिभद्रसूरिकृतः षड्दर्शनसमुच्चयः समाप्तः ।



लोकायतमत में वर्ण्य विषय का संक्षेप इस प्रकार निरूपित किया गया । वाच्य अर्थ के तात्पर्य की सम्यक् आलोचना बुद्धिमानों के द्वारा की जानी चाहिए ॥ ८७ ॥

षड्दर्शनसमुच्चय की 'दर्शनकौमुदी' हिन्दी-व्याख्या समाप्त



एवममुना प्रकारेण लोकायतमतेऽप्ययं संक्षेपो निवेदितः, अपिः समुच्चये न केवलं परमते, संक्षेप उक्तो लोकायतमतेऽपि ।

अथ सर्वदर्शनसम्मतसङ्ग्रहे परस्परकल्पितानल्पविकल्पजल्परूपे निरूपिते किंकर्त्तव्यमूढानां प्राणिनां कर्त्तव्योपदेशमाह अभिधेयेति । सुबुद्धिभिः पण्डितैरभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः, अभिधेयं कथनीयं मुक्त्यङ्गतया प्रतिपाद्यं यद्दर्शनस्वरूपं तस्य तात्पर्यार्थः सारार्थो विचारणीयः, सुबुद्धिभिरिति । शुद्धा पक्षपातरहिता बुद्धिर्येषामिति, न तु कदाग्रहग्रहिलैः, यदुक्तम्—

'आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य हि तस्य यत्र तत्र मतिरेति निवेशमि'ति ॥

दर्शनानां पर्यन्तैकसारूप्येऽपि पृथक् पृथगुपदेष्टव्याद्विमतिसम्भवे विमूढस्य प्राणिनः सर्वस्पृक्तया दुर्लभं स्वर्गापवर्गसाधकत्वम्, अतो विमर्शनीयस्तात्त्विकोऽर्थः, यथा च विचारितं चिरंतनैः ।

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्त्तव्यः पुनरार्हतः ।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः ॥

इत्यादि विमृश्य श्रेयस्करं रहस्यभ्युपगन्तव्यं कुशलमतिभिरिति पर्यन्तश्लोकार्थः ॥ ८७ ॥

सप्ताशीतिः श्लोकसूत्रं, टीकामानं विनिश्चितम् ।
सहस्रमेकं द्विशती द्वापञ्चाशदनुष्टुभाम् ॥

इति श्रीहरिभद्रसूरिकृतषड्दर्शनसमुच्चये मणिभद्रकृता लघुवृत्तिः
समाप्ता । शम् ।



परिशिष्टम्—१

मलधारिश्रीराजशेखरसूरिविरचितः

षड्दर्शनसमुच्चयः

[अथ प्रस्तावना]

नत्वा निजगुरून् भक्त्या स्मृत्वा वाङ्मयदेवताम् ।
सर्वदर्शनवक्तव्यं वक्ति श्रीराजशेखरः ॥ १ ॥
धर्मः प्रियः सर्वलोके तं ब्रूयुर्दर्शनानि षट् ।
तेषां लिङ्गे च वेषे च आचारे दैवते गुरौ ॥ २ ॥
प्रमाणतत्त्वयोर्मुक्तौ तर्के भेदो निरीक्ष्यते ।
मुक्तिरष्टाङ्गयोगेनेत्येतत् साधारणं वचः ॥ ३ ॥
जैनं साख्यं जैमिनीयं योगं वैशेषिकं तथा ।
सौगतं दर्शनान्येवं नास्तिकं तु न दर्शनम् ॥ ४ ॥

[अथ जैनमतम्]

तत्र जैनमते लिङ्गं रजोहरणमादिसम् ।
मुखवस्त्रं च वेषश्च चोलपट्टादिकः स्मृतः ॥ ५ ॥
विस्तरस्त्वोघनिर्युक्तेर्ज्ञेयो वेषादिगोचरः ।
आचारः पञ्चसमिति-गुप्तित्रितयलक्षणः ॥ ६ ॥
ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः ।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात् ॥ ७ ॥
तीर्थङ्कराश्चतुर्युक्ता विंशतिर्वृषभादयः ।
क्लिष्टाष्टकर्मनिर्मुक्ताः केवलज्ञानभास्कराः ॥ ८ ॥
महाव्रतधरो धीरः सर्वागमरहस्यवित् ।
क्रोधमानादिविजयी निर्ग्रन्थो गुरुरुच्यते ॥ ९ ॥
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे इह स्मृते ।
तत्र प्रमेयं स्याद्वादाधिष्ठितं द्रव्यषण्मयम् ॥ १० ॥
धर्माधर्मौ नभः कालः पुद्गलश्चेतनस्तथा ।
द्रव्यषट्कमिदं ख्यातं तद्भेदास्त्वागमे स्मृताः ॥ ११ ॥
जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमाश्रवसंवरौ ।
बन्धो विनिर्जरामोक्षौ नवतत्त्वी मताऽर्हताम् ॥ १२ ॥

चैतन्यलक्षणो जीवः स्यादजीवस्ततोऽन्यथा ।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं दुष्कर्मपुद्गलाः ॥ १३ ॥
कषाया विषया योगा इत्याद्या आश्रवा मताः ।
आश्रवाद् विरमणं यत् तत् संवर इति स्मृतः ॥ १४ ॥
शुभाशुभानां ग्रहणं कर्मणां बन्ध इष्यते ।
पूर्वोपार्जितकर्मौघजरणं निर्जरा स्मृता ॥ १५ ॥
कर्मक्षयेण जीवस्य स्वस्वरूपस्थितिः शिवम् ।
एषां नवानां श्रद्धाने चारित्रात्तु लभ्यते ॥ १६ ॥
श्वेताम्बरा वन्द्यमाना धर्मलाभं प्रचक्षते ।
शुद्धां माधुकरीं वृत्तिं सेवन्ते भोजनादिषु ॥ १७ ॥
ख्याताः प्रमाणमीमांसा प्रमाणोक्तिसमुच्चयः ।
नयचक्रवालतर्कः स्याद्वादकलिका तथा ॥ १८ ॥
प्रमेयपद्ममार्तण्डस्तत्त्वार्थः सर्वसाधनः ।
धर्मसंग्रहणीत्यादितर्कौघा जिनशासने ॥ १९ ॥
जैने मत उभौ पक्षौ श्वेताम्बरदिगम्बरौ ।
श्वेताम्बरः पुरा प्रोक्तः कथ्यतेऽथ दिगम्बरः ॥ २० ॥
दिगम्बराणां चत्वारो भेदा नाग्न्यव्रतस्पृशः ।
काष्ठासङ्घो मूलसङ्घः सङ्घौ माथुरगोप्यकौ ॥ २१ ॥
पिच्छिका चमरीवालैः काष्ठासङ्घे प्रतिष्ठिता ।
मूलसङ्घे मयूराणां पिच्छैर्भवति पिच्छिका ॥ २२ ॥
पिच्छिका माथुरे सङ्घे मूलादपि हि नादृता ।
मयूरपिच्छिका गोप्याः धर्मलाभं भणन्ति ते ॥ २३ ॥
धर्मवृद्धिगिरः शेषाः गोप्याः स्त्रीमुक्तिभाषिणः ।
गोप्यादन्ये त्रयः सङ्घाः प्राहुर्नो निर्वृतिं स्त्रियाः ॥ २४ ॥
शेषास्त्रयश्च गोप्याश्च केवलिभुक्तिं न मन्वते ।
नास्ति चीवरयुक्तस्य निर्वाणं सद्व्रतेऽपि हि ॥ २५ ॥
द्वात्रिंशदन्तरायाः स्युर्मलाश्चैव चतुर्दश ।
भिक्षाऽटने भवन्त्येषां वर्जनीयास्तदागमे ॥ २६ ॥
शेष श्वेताम्बरैस्तुल्यमाचारे दैवते गुरौ ।
श्वेताम्बरप्रणीतानि तर्कशास्त्राणि मन्वते ॥ २७ ॥
स्याद्वादविद्याविद्योतात् प्रायः साधर्मिका अमी ।
परमष्टसहस्री या न्यायकैरवचन्द्रमाः ॥ २८ ॥

सिद्धान्तसार इत्याद्यास्तर्काः परमकर्कशाः ।
तेषां जयश्रीदानाय प्रगल्भन्ते पदे पदे ॥ २९ ॥
जिनकल्पादयो भेदा व्युच्छिन्नाः साम्प्रतं कलौ ।
वर्तमानं ततः प्रोक्तं सर्वं ज्ञेयं जिनागमात् ॥ ३० ॥
सम्यग् जैनं मतं ज्ञात्वा योगेऽष्टाङ्गे रमेत यः ।
स कर्मलाघवं कृत्वा लब्धा सौख्यपरम्पराम् ॥ ३१ ॥

[अथ सांख्यमतम्]

अथ सांख्यमतं ब्रूमस्ते त्रिदण्डैकदण्डकाः ।
कौपीनं वसनं तेषां धातुरक्ताम्बराश्च ते ॥ ३२ ॥
क्षुरमुण्डा एणचर्मासना द्विजगृहाशनाः ।
पञ्चग्रासीपराश्चैव द्वादशाक्षरजापिनः ॥ ३३ ॥
ॐ नमो नारायणाय तद्भक्ताः प्रवदन्त्यदः ।
प्रणामकाले तेऽप्याहुः पदं तत्तु नमोऽन्तकम् ॥ ३४ ॥
बीटेति भारते ख्याता दारवी मुखवस्त्रिका ।
दयानिमित्तं भूतानां मुखनिःश्वासरोधिका ॥ ३५ ॥
यदाहुस्ते—घ्राणादनुप्रयातेन श्वासेनैकेन जन्तवः ।
हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिना ॥ ३६ ॥
दयार्थं जलजीवानां गलनं धारयन्ति ते ।
शास्त्रेषूपदिशन्त्येवं भक्तानां पुरतः सदा ॥ ३७ ॥
षट्त्रिंशदङ्गुलायामं विंशत्यङ्गुलविस्तृतम् ।
दृढं गलनकं कुर्याद् भूयो जीवान् विशोधयेत् ॥ ३८ ॥
म्रियन्ते मिष्टतोयेन पूतराः क्षारसम्भवाः ।
क्षारतोयेन तु परे न कुर्यात् सङ्करं ततः ॥ ३९ ॥
लूताऽऽस्यतन्तुगलितैकबिन्दौ सन्ति जन्तवः ।
सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते नैव मान्ति त्रिविष्टपे ॥ ४० ॥
कुसुम्भकुङ्कुमाम्भोवन्निचितं सूक्ष्मजन्तुभिः ।
न दृढेनापि वस्त्रेण शक्यं शोधयितुं जलम् ॥ ४१ ॥

[उत्तरमीमांसायां गलनकविचारोऽयम्]

सांख्या निरीश्वराः केचित् केचिदीश्वरदेवताः ।
ये ते निरीश्वरास्तेऽमी नारायणपरायणाः ॥ ४२ ॥
विष्णोः प्रतिष्ठां कुर्वन्ति सांख्यशासनसूरयः ।
चैतन्यप्रमुखैः शब्दैस्तेषामाचार्य उच्यते ॥ ४३ ॥

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चेति प्रमात्रयम् ।
अन्तर्भावोऽत्र शेषाणां प्रमाणानां सयुक्तिकः ॥ ४४ ॥
अमीषां सांख्यसूरीणां तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ।
सत्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद् गुणत्रयम् ॥ ४५ ॥
एतेषां या समाऽवस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते ।
प्रधानाव्यक्त-शब्दाभ्यां वाच्या नित्यस्वरूपिका ॥ ४६ ॥
ततः संजायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते ।
अहङ्कारस्ततोऽपि स्यात् ततः षोडशको गणः ॥ ४७ ॥
स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
पञ्चबुद्धीन्द्रियाण्याहुस्तथा कर्मेन्द्रियाणि च ॥ ४८ ॥
पायूपस्थवचः पाणिपादाख्यानि मनस्तथा ।
अन्यानि पञ्चरूपाणि तन्मात्राणीति षोडश ॥ ४९ ॥
रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद् भूमिः स्वरान्नभः ।
स्पर्शाद् वायुस्तथा चैवं पञ्चभ्यः पञ्चभूतकम् ॥ ५० ॥
एवं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं सांख्यमते प्रधानम् ।
अन्यश्च कर्ता विगुणश्च भोक्ता तत्त्वं पुमान् नित्यचिदभ्युपेतः ॥
अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥ ५२ ॥
प्रकृतेर्विरहो मोक्षस्तन्नाशे स स्वरूपगः ।
बध्यते मुच्यते चैव प्रकृतिः पुरुषो न तु ॥ ५३ ॥
सांख्यानां मतवक्तारः कपिलासुरिभार्गवाः ।
उलूकः पञ्चशिखश्चेश्वरकृष्णस्तु शास्त्रकृत् ॥ ५४ ॥
तर्कग्रन्था एतदीया माठरस्तत्त्वकौमुदी ।
गौडपादाऽऽत्रेयतन्त्रे साङ्ख्यसप्ततिसूत्रयुक् ॥ ५५ ॥
काश्यां प्राचुर्यमेतेषां बहवो मासोपवासिकाः ।
धूम्रमार्गानुगा विप्रा अर्चिर्मार्गानुगास्त्वमी ॥ ५६ ॥
वेदप्रियास्ततो विप्रा यज्ञमार्गानुगामिनः ।
हिंसादिवेदविरताः सांख्या अध्यात्मवादिनः ॥ ५७ ॥
स्वकीयस्य मतस्यैते महिमानं प्रचक्षते ।
यदि सांख्यमते भक्तिस्तदा मुक्तिर्विना श्रमम् ॥ ५८ ॥

१ उक्तञ्च माठरप्रान्ते—

हस पिब लल खाद मोद नित्यं भुङ्क्ष्व च भोगान् यथाऽभिलाषम् ।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत् प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥५९॥ ।

[अथ मीमांसकमतम्]

अथ मीमांसकं ब्रूमो जैमिनीयापराभिधम् ।
जैमिनीया एकदण्डास्त्रिदण्डा अपि सांख्यवत् ॥ ६० ॥
मीमांसको द्विधा कर्मब्रह्ममीमांसकस्तथा ।
वेदान्ती मन्यते ब्रह्म कर्म भट्टप्रभाकरौ ॥ ६१ ॥
ते धातुरक्तवसना मृगचर्मोपवेशिकाः ।
कमण्डलुधरा मुण्डा भाट्टाः प्राभाकराश्च ते ॥ ६२ ॥
वेदान्तध्यानमेवैकमाचारस्तैरुरीकृतः ।
तेषां मते नास्तिदेवः सर्वज्ञादिविशेषणः ॥ ६३ ॥
तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टुरभावतः ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिर्णयः ॥ ६४ ॥
अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः प्रयत्नतः ।
ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्त्तव्या धर्मसाधनी ॥ ६५ ॥
नोदनालक्षणो धर्मो नोदना तु क्रियां प्रति ।
प्रवर्तकं वचः प्राहुः स्वःकामोऽग्निं यथा यजेत् ॥ ६६ ॥
वेद एव गुरुस्तेषां वक्ता कश्चित्परो न हि ।
ततः स्वयं ते संन्यस्तं संन्यस्तमिति भाषिणः ॥ ६७ ॥
यज्ञोपवीतं प्रक्षाल्य पिबन्ति तज्जलं शुचि ।
एते सांख्यानुगा वेषात् तत्त्वेऽतिमहती भिदा ॥ ६८ ॥
षट्प्रमाणस्पृशो भाट्टास्तन्नामानि प्रचक्ष्महे ।
प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह ॥ ६९ ॥
अर्थापत्तिरभावश्च भाट्टानां षट्प्रमाः स्मृताः ।
प्रभाकरमते पञ्च ते ह्यभावं न मन्वते ॥ ७० ॥
एकमेवाद्वितीयं स्याद् ब्रह्म तत्त्वं महाफलम् ।
प्रपञ्चः स्तम्भकुम्भादिस्तेषां शास्त्रे निरर्थकः ॥ ७१ ॥
मीमांसको द्विजन्मेवेत्यतः शूद्रान्नवर्जकः ।
न पौरुषकृता वेदाः पारम्पर्येण तद्ग्रहात् ॥ ७२ ॥
मीमांसकानां चत्वारो भेदास्तेषु कुटीचरः ।
बहूदकश्च हंसश्च तथा परमहंसकः ॥ ७३ ॥
कुटीचरो मठावासी यजमानपरिग्रही ।
बहूदको नदीतीरे स्नातो नैरस्यभैक्ष्यभुक् ॥ ७४ ॥
हंसो भ्रमति देशेषु तपःशोषितविग्रहः ।
यः स्यात्परमहंसस्तु तस्याचारं वदाम्यहम् ॥ ७५ ॥

स ईशानीं दिशं गच्छन् यत्र निष्ठितशक्तिकः ।
तत्रानशनमादत्ते वेदान्तध्यानतत्परः ॥ ७६ ॥
परः पर इहोत्कृष्टो याज्यास्तेषां तु वाडवाः ।
सांख्यवत्प्रकृतेर्भेदात् मोक्षो जीवस्य तन्मते ॥ ७७ ॥

गार्गीयस्मृतिमध्यगाः श्लोकाः—

त्रिदण्डी सशिखो यस्तु ब्रह्मसूत्री गृहच्च्युतः ।
सकृत् पुत्रगृहेऽश्नाति यो याति स कुटीचरः ॥ ७८ ॥
कुटीचरस्य रूपेण ब्रह्मभिक्षो जिताशनः ।
बहूदकः स विज्ञेयो विष्णुजापपरायणः ॥ ७९ ॥
ब्रह्मसूत्रशिखाहीनः कषायाम्बरदण्डभृत् ।
एकरात्रिं वसेद् ग्रामे नगरे च त्रिरात्रिकम् ॥ ८० ॥
विप्राणामावसथेषु विधूमेषु गताग्निषु ।
ब्रह्मभिक्षां चरेद्धंसः कुटिकावासमाचरेत् ॥ ८१ ॥
हंसस्य जायते ज्ञानं तदा स्यात्परमो हि सः ।
चातुर्वर्ण्यप्रभोक्ता च स्वेच्छया दण्डभृत्तदा ॥ ८२ ॥
प्रपञ्चमिथ्या कठवल्लिका च ख्यातं जने भागवतं पुराणम् ।
इत्यादिशास्त्राणि बहूनि तेषां तत्सम्प्रदायस्तु कृशोऽत्रलोके ॥ ८३ ॥

[अथ योगमतम्]

अथ योगमतं ब्रूमः शैवमित्यपराभिधम् ।
ते दण्डधारिणः प्रौढकौपीनपरिधायिनः ॥ ८४ ॥
कम्बलिकाप्रावरणा जटापटलशालिनः ।
भस्मोद्धूलनकर्त्तारो नीरसाहारसेविनः ॥ ८५ ॥
दोर्मूले तुम्बकभृतः प्रायेण वनवासिनः ।
आतिथ्यकर्मनिरताः कन्दमूलफलाशनाः ॥ ८६ ॥
सस्त्रीका अथ निःस्त्रीका निःस्त्रीकास्तेषु चोत्तमाः ।
पञ्चाग्निसाधनपराः प्राणलिङ्गधराः करे ॥ ८७ ॥
विधाय दन्तपवनं प्रक्षाल्यांघ्रिकराननम् ।
स्पृशन्ति भस्मनाऽङ्गम् त्रिस्त्रिः शिवध्यानतत्पराः ॥ ८८ ॥
यजमानो वन्दमानो वक्ति तेषां कृताञ्जलिः ।
ॐ नमः शिवायेत्येवं शिवाय नम इत्यसौ ॥ ८९ ॥
तेषां च शङ्करो देवः सृष्टिसंहारकारकः ।
तस्यावताराः सारा ये तेऽष्टादश तदर्चिताः ॥ ९० ॥

तेषां नामान्यथ ब्रूमो नकुलीशोऽथ कौशिकः ।
गार्ग्यो मैत्रः कौरुषश्च ईशानः षष्ठ उच्यते ॥ ९१ ॥
सप्तमः पारगार्ग्यस्तु कपिलाण्डमनुष्यकौ ।
अपरकुशिकोऽत्रिश्च पिङ्गलाक्षोऽथ पुष्पकः ॥ ९२ ॥
बृहदाचार्योऽगस्तिश्च सन्तानः षोडशः स्मृतः ।
राशीकरः सप्तदशो विद्यागुरुस्थापरः ॥ ९३ ॥
एतेऽष्टादश तीर्थेशास्तैः सेव्यन्ते पदे पदे ।
पूजनं प्रणिधानं च तेषां ज्ञेयं तदागमात् ॥ ९४ ॥
अक्षपादो गुरुस्तेषां तेन ते ह्याक्षपादकाः ।
उत्तमां संयमावस्थां प्राप्ता नग्ना भ्रमन्ति ते ॥ ९५ ॥
प्रमाणानि च चत्वारि प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
उपमानं च शाब्दं च तत्फलानि पृथक्-पृथक् ॥ ९६ ॥
तत्त्वानि षोडशामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा ।
प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम् ॥ ९७ ॥
दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवस्तर्कनिर्णयौ ।
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च ॥ ९८ ॥
जातयो निग्रहस्थानान्येषां व्ययस्तु दुस्तरः ।
आत्यन्तिकस्तु दुःखानां वियोगो मोक्ष उच्यते ॥ ९९ ॥
जयन्ताचार्यरचितो न्यायतर्कोऽतिदुस्तरः ।
अन्यस्तूदयनाचार्यो ग्रन्थप्रासादसूत्रभृत् ॥ १०० ॥
भासर्वज्ञो न्यायसारतर्कसूत्रविधायकः ।
न्यायसाराभिधे तर्के टीका अष्टादश स्फुटाः ॥ १०१ ॥
न्यायभूषणनाम्नी तु टीका तासु प्रसिद्धिभाक् ।
अयमेषां विशेषस्तु यत्प्रजल्पन्ति पर्षदि ॥ १०२ ॥
शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीं सेवित्वा योऽपि मुञ्चति ।
दासीदासोऽपि भवति सोऽपि निर्वाणमृच्छति ॥ १०३ ॥
एतेषु निर्विकारा ये मीमांसां दर्शयन्ति ते ।
तत्र पद्यमिदं चास्ति मोक्षमार्गप्ररूपकम् ॥ १०४ ॥

न स्वर्धुनी न फणिनो न कपालदाम ।
नेन्दोः कला न गिरिजा न जटा न भस्म ॥
यत्रास्ति नान्यदपि किञ्चिदुपास्महे तद् ।
रूपं पुराणमुनिशीलितमीश्वरस्य ॥ १०५ ॥

स एव योगिनां सेव्यो योऽर्वाचीनस्तु योगभाक् ।
स ध्यायमानो राज्यादिसुखलुब्धैर्निषेव्यते ॥ १०६ ॥

उक्तं च तैः स्वयोगशास्त्रे—

वीतरागं स्मरन् योगी वीतरागत्वमश्नुते ।
सरागं ध्यायतः पुंसः सरागत्वं तु निश्चितम् ॥ १०७ ॥

येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ १०८ ॥
श्रुतानुसारतः प्रोक्तं नैयायिकमतं मया ।
एतेषामेव शास्त्रेभ्यस्तांस्तान् भावान् विदुर्बुधाः ॥ १०९ ॥
एतेषां यजमानस्तु सुताराहृदयेश्वरः ।
सत्यवादी हरिश्चन्द्रो रामलक्ष्मणपूर्वजः ॥ ११० ॥
भरटानां व्रतादाने वर्णव्यक्तिर्न काचन ।
यस्य पुनः शिवे भक्तिर्व्रती स भरटो भवेत् ॥ १११ ॥
अमीषां सर्वतीर्थेषु भरटा एव पूजकाः ।
शेषा नमस्कारकराः सोऽपि कार्यो न सन्मुखः ॥ ११२ ॥

[अथ वैशेषिकम्]

अथ वैशेषिकं ब्रूमः पाशुपतान्यनामकम् ।
लिङ्गादि यौगवत्तेषां ते ते तीर्थकरा अपि ॥ ११३ ॥
वैशेषिकाणां यौगेभ्यो मानतत्त्वगता भिदा ।
प्रत्यक्षमनुमानं च मते तेषां प्रमाद्वयम् ॥ ११४ ॥
अवशेष - प्रमाणानामन्तर्भावोऽत्र तैर्मतः ।
तत्त्वानि तु षडेवात्र द्रव्यप्रभृतकान्यहो ॥ ११५ ॥
द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम् ।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं हि तन्यते ॥ ११६ ॥
तत्र द्रव्यं नवधा भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि ।
कालदिगात्ममनांसि च गुणः पुनः पञ्चविंशतिधा ॥ ११७ ॥
स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः संख्या विभागसंयोगौ ।
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥ ११८ ॥
बुद्धिः सुखदुःखेच्छा धर्माधर्मप्रयत्नसंस्काराः ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ॥ ११९ ॥

उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम् ।
पञ्चविधं कर्मैतत् परापरे द्वे तु सामान्ये ॥ १२० ॥
तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु ।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिष्टः ॥ १२१ ॥
य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम् ।
सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स च भवति समवायः ॥ १२२ ॥
यौगे वैशेषिके तन्त्रे प्रायः साधारणी क्रिया ।
आचार्यः शङ्कर इति नाम प्रागभिधापरम् ॥ १२३ ॥
अमीषां तर्कशास्त्राणि षट् सहस्राणि कन्दली ।
श्रीधराचार्यरचिता प्रशस्तकरभाष्यकम् ॥ १२४ ॥
तत्र सप्तशती मानं सूत्रं तु त्रिशतीमितम् ।
व्योमशिवाचार्यकृता टीका व्योममतिर्मता ॥ १२५ ॥
सा स्यान्नव सहस्राणि परा तु किरणावली ।
सा तूदयनसंदब्धा उद्देशात् षट्सहस्रिका ॥ १२६ ॥
श्रीवत्साचार्यरचिता टीका लीलावती मता ।
सापि स्यात् षट् सहस्राणि एकं त्वात्रेयतन्त्रकम् ॥ १२७ ॥
तत्तु सम्प्रति व्युच्छिन्नं शिष्या सन्दोयमा यतः ।
आचारव्यवहारौ च प्रायश्चित्तं च ते विदुः ॥ १२८ ॥
जीवस्यात्यन्तिको दुःखवियोगो मोक्ष इष्यते ।
यौगानां च तथैवोक्तः प्रायः साधर्मिका यतः ॥ १२९ ॥
शिवेनोलूकरूपेण कणादस्य मुनेः पुरः ।
मतमेतत् प्रकथितं तत औलूक्यमुच्यते ॥ १३० ॥
अक्षपादेन ऋषिणा रचितत्वात्तु यौगिकम् ।
आक्षपादमिति ख्यातं प्रायस्तुल्यं मतद्वयम् ॥ १३१ ॥

[अथ बौद्धमतम्]

अथ बौद्ध मतं वक्ष्ये मौण्ड्यं कृत्तिः कमण्डलुः ।
लिङ्गं तेषां रक्तवस्त्रं वेषः शौचक्रिया बहुः ॥ १३२ ॥
धर्मबुद्धसंघरूपं तेषां रत्नत्रयं मतम् ।
तारा देवी पुनस्तेषां सर्वविघ्नोपघातिनी ॥ १३३ ॥
सप्ततीर्थङ्करास्तेषां कण्ठे रेखात्रयाङ्किताः ।
विपश्यी शिखी विश्वभूः क्रकुच्छन्दश्च काञ्चनः ॥ १३४ ॥
कश्यपश्च सप्तमस्तु शाक्यसिंहाऽर्कबान्धवः ।

तथा राहुलसूः सर्वार्थसिद्धौ गौतमान्वयः ॥ १३५ ॥
मायाशुद्धोदनसुतो देवदत्ताग्रजश्च सः ।
शौद्धोदनिधर्मकीर्तिप्रमुखा गुरवो मताः ॥ १३६ ॥
प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे प्रमाणे तु तन्मते ।
चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखादीनां प्ररूपकः ॥ १३७ ॥
सर्वज्ञस्तन्मते बुद्धः स प्रमेयचतुष्कवाक् ।
दुःखं समुदयो मार्गो निरोधश्चेति तात्त्विकम् ॥ १३८ ॥
दुखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥ १३९ ॥
समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ।
आत्माऽऽत्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स उदाहृतः ॥ १४० ॥
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना तु या ।
स मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥ १४१ ॥
सुगताचारलग्नस्य ज्ञाननिर्मलता हि या ।
सा मुक्तिर्मन्यते बौद्धैः कैश्चित् कैश्चिच्चित्तः क्षय ॥ १४२ ॥
आत्मानं मन्वते नैते ज्ञानमेव तु मन्वते ।
भवान्तरे सहचरं संतानस्थं क्षणक्षयि ॥ १४३ ॥
चत्वारो बौद्धभेदाः स्युर्भक्तिस्तेषां पृथक् पृथक् ।
काव्यादमुष्माद् ज्ञातव्यास्तन्मयप्रतिपादितात् ॥ १४४ ॥
अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते ।
प्रत्यक्षेण हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराहृतः ।
योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा ।
मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम् ॥ १४५ ॥
तर्कः कमललैलश्च तथा न्यायप्रवेशकः ॥ १४६ ॥
तर्कभाषा हेतुबिन्दुर्न्यायबिन्दुस्तथाऽर्चटः ।
ज्ञानपारमिताद्यास्तु ग्रन्थाः स्युर्दश तन्मते ।
प्रासादा वर्तुलास्तेषां बुद्धाण्डक इति स्मृताः ॥ १४७ ॥

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया
मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे ।
द्राक्षाखण्डः शर्करा चार्द्धरात्रे
मोक्षश्चान्ते शाक्यसिंहेन दृष्टः ॥ १४८ ॥

[अथ अष्टाङ्गयोगावश्यकता]

उक्ता लिङ्गादयो भेदा दर्शनानां शिवैषिणाम् ।
तद्विस्तरस्तु न प्रोक्तो यथाज्ञानमुदीरितः ॥ १४९ ॥

अष्टाङ्गयोगसिद्ध्यर्थं दध्युर्लिङ्गानि लिङ्गिनः ।
सर्वे प्राहुस्तमष्टाङ्गं तत्स्वरूपं वदाम्यथ ॥ १५० ॥

अहिंसासूनृताऽस्तेयब्रह्माकिञ्चनता यमाः ।
नियमा शौचं सन्तोषः स्वाध्यायतपसी अपि ॥ १५१ ॥

देवताप्रणिधानं च करणं पुनरासनम् ।
प्राणायामः प्राणयमः श्वासप्रश्वासरोधनम् ॥ १५२ ॥

प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां विषयेभ्यः समाहृतिः ।
धारणा तु क्वचिद् ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धनम् ॥ १५३ ॥

ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः ।
समाधिस्तु तदेवार्थमात्राभासनरूपकम् ॥ १५४ ॥

एवं योगो यमाद्यङ्गैरष्टभिः संमतोऽष्टधा ।
मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः ॥ १५५ ॥

निवर्तको भवेद् धर्मो परिव्राजां शिवैषिणाम् ।
राज्यादिभोगमिच्छूनां गृहिणां तु प्रवर्तकः ॥ १५६ ॥

सर्वसावद्यविरतिधर्मः सिद्ध्यै निवर्तकः ।
इष्टापूर्तादिको धर्मो भवेद् भूत्यै प्रवर्त्तकः ॥ १५७ ॥

(नास्तिकदर्शन-खण्डनम्)

धर्माधर्मविधातारं जीवं दर्शनिनो विदुः ।
नास्तिकास्तं न मन्यन्ते पुण्यापुण्यबहिर्मुखाः ॥ १५८ ॥

तेऽधिपर्षद् वदन्त्येवं नास्ति जीवो न कर्म च ।
धर्माधर्मौ न विद्येते ततः किं नु तयोः फलम् ॥ १५९ ॥

एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे ! वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ १६० ॥

पिब खाद च चारुलोचने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥ १६१ ॥

पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम् ।
प्रमाणभूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि ॥ १६२ ॥
पृथ्व्यादिभूतसंहत्यां यदा देहादिसंगतिः ।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत् तद्वच्चिदात्मता ॥ १६३ ॥
तस्माद् दृष्टपरित्यागाद् यददृष्टे प्रवर्तनम् ।
तद्धि लोकस्य मूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ॥ १६४ ॥
क्रमेण खण्डनं तेषां जीवस्तावत्प्रपद्यताम् ।
अहं दुःखी सुखी चाहमिति प्रत्यययोगतः ॥ १६५ ॥
घटं वेद्म्यहमित्यत्र त्रितयं प्रतिभासते ।
कर्म क्रिया च कर्त्ता च, तत्कर्त्ता किं निषिध्यते ॥ १६६ ॥
शरीरमेव चेत्कर्तृ न कर्तृ तदचेतनम् ।
भूतचैतन्ययोगाच्च चेतनं, तदसङ्गतम् ॥ १६७ ॥
मया दृष्टं श्रुतं स्पृष्टं घ्रातमास्वादितं स्मृतम् ।
इत्येककर्त्तृका भावा भूतचिद्वादिनः कथम् ॥ १६८ ॥
स्वसंवेदनतः सिद्धे स्वदेहे चेतनात्मनि ।
परदेहेऽपि तत्सिद्धिरनुमानेन साध्यते ॥ १६९ ॥
बुद्धिपूर्वा क्रिया दृष्टा स्वदेहेऽन्यत्र तद्गतिः ।
प्रमाणबलतः सिद्धा चेतना नातिवार्यते ॥ १७० ॥
तत्परलोकिनः सिद्धौ कर्मबन्धो न दुर्घटः ।
विचित्राध्यवसायस्थः स हि बध्नात्यनादितः ॥ १७१ ॥
पुण्यपापमयं कर्म चीयते वाऽपचीयते ।
तद्वशात् सुखदुःखानि न तु यादृच्छिकान्यहो ॥ १७२ ॥
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १७३ ॥
स्तन्यपानाभिलाषो यत् प्रथमं बालके भवेत् ।
पूर्वजन्माभ्यासतोऽसौ तस्मिन् जन्मन्यशिक्षणात् ॥ १७४ ॥
तस्मान्नास्तिकवाक्येषु रतिः कर्तुं न युज्यते ।
आत्मा ज्ञानी कर्ममुक्तः परलोकी च बुध्यताम् ॥ १७५ ॥
स चाष्टाङ्गेन योगेन कर्मोन्मूल्य समन्ततः ।
आप्नोति मुक्तिं तत्रोच्चैरानन्दं स्वादयत्यहो ॥ १७६ ॥

सादिकमनन्तमनुपमाव्ययाबाधं स्वभावजं सौख्यम् ।
प्राप्तः स केवलज्ञानदर्शनो मोदते मुक्तः ॥ १७७ ॥

सर्वथाऽप्यजिघांसूनां गुरुदेवहितैषिणाम् ।
अदीर्घसत्सराणां च मुक्तिरासन्नवर्तिनी ॥१७८ ॥

कालस्वभावनियतिचेतनेतरकर्मणाम् ।
भवितव्यतया पाके मुक्तिर्भवति नान्यथा ॥ १७९ ॥

बालावबोधनकृते मलधारिसूरिः
श्रीराजशेखर इति प्रथमानबुद्धिः ।
सम्यग्गुरोरधिगतोत्तमतर्कशास्त्र :
षड्दर्शनीमिति मनाक् कथयाम्बभूव ॥ १८० ॥

॥ इति श्रीराजशेखरसूरिकृतः षड्दर्शनसमुच्चयः ॥

परिशिष्टम्–२

कारिकानुक्रमणी

परिशिष्टम्—३

लघुवृत्त्युद्धरण-संग्रहः

परिशिष्टम्–४

टीकोद्धृतमत-ग्रन्थ-ग्रन्थकारसंग्रहः

परिशिष्टम्—५

गुणरत्न की टीका के कुछ उत्कृष्ट अंश

हरिभद्र के विषय में

इह हि जगति गरीयश्चित्तवतां महतां परोपकारसम्पादनमेव सर्वोत्तमा स्वार्थसम्पत्तिरिति मत्वा परोपकारैकप्रवृत्तिसारश्चतुर्दशशतसंख्यशास्त्रविरचनाजनितजगज्जन्तूपकारः श्रीजिनशासनप्रभावनाप्रभाताविर्भावनभास्करो याकिनीमहत्तरावचनानवबोधलब्धबोधिबन्धुरो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः षड्दर्शनीवाच्यरूपं जिज्ञासूनां तत्तदीयग्रन्थविस्तरावधारणशक्ति-विकलानां सकलानां विनेयानामनुग्रहविधित्सया स्वल्पग्रन्थं महार्थं सद्भूतनामान्वयं षड्दर्शनसमुच्चयं शास्त्रं प्रारभमाणः······।

अन्यदर्शनों के भी निरूपण के विषय में

ननु कथं सर्वदर्शनानां परस्पर-विरुद्धभाषिणामभीष्टा वस्त्वंशाः सद्भूताः संभवेयुः येषां मिथः-सापेक्षतया स्याद्वादः सत्प्रवादः स्यादिति चेत्, उच्यते। यद्यपि दर्शनानि निजनिजमतभेदेन परस्परं विरोधं भजन्ते, तथापि तैरुच्यमानाः सन्ति तेऽपि वस्त्वंशा ये मिथः सापेक्षाः सन्तः समीचीनतामञ्चन्ति। तथा हि—सौगतैरनित्यत्वं, सांख्यैर्नित्यत्वं, नैयायिकैर्वैशेषिकैश्च परस्परविविक्ते नित्यानित्यत्वे सदसत्त्वे सामान्यविशेषौ च, मीमांसकैः स्याच्छब्दवर्जं भिन्नाभिन्ने नित्यानित्यत्वे सदसदंशौ सामान्यविशेषौ शब्दस्य नित्यत्वं च, कैश्चित्कालस्वभावनियतिकर्मपुरुषादीनि जगत्कारणानि, शब्दब्रह्मज्ञानाद्वैतवादिभिश्च शब्दब्रह्मज्ञानाद्वैतानि चेत्यादयो ये ये वस्त्वंशाः परैरङ्गीक्रियन्ते, ते सर्वेऽपि सापेक्षाः सन्तः परमार्थसत्यतां प्रतिपद्यन्ते निरपेक्षास्त्वन्योन्येन निरस्यमाना नभोनलिनायन्त इत्यलं विस्तरेण।

बौद्धमत के विषय में

अत्र चादौ बौद्धदर्शनोपलक्षणार्थं मुग्धशिष्यानुग्रहाय बौद्धानां लिङ्गवेषाचारादिस्वरूपं प्रदर्श्यते। चमरो मौण्ड्यं कृत्तिः कमण्डलुश्च लिङ्गम्। धातुरक्तमागुल्फं परिधानं वेषः। शौचक्रिया बह्वी।

मृद्वीशय्या प्रातरुत्थाय पेया भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥
मणुन्नं भोयणं भुच्चा मणुन्नं सयणासणं।
मणुन्नंमि अगारंमि मणुन्नं झायए मुणी॥

भिक्षायां पात्रे पतितं सर्वं शुद्धमिति मन्वाना मांसमपि भुञ्जते। ब्रह्मचर्यादिस्वकीयक्रियायां च भृशं दृढतमा भवन्ति। इत्यादिराचारः। धर्मबुद्धसङ्घरूपं

रत्नत्रयम् । तारादेवी शासने विघ्ननाशिनी । विपश्यादयः सप्त बुद्धाः कण्ठे रेखात्रयाङ्किताः सर्वज्ञा देवाः । बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुरित्यादीनि तन्नामानि । भिक्षुसौगतशाक्यशौद्धोदनिसुततथागतशून्यवादिनामानो बौद्धाः । तेषां शौद्धोदनि-धर्मोत्तरार्चटधर्मकीर्तिप्रज्ञाकरदिङ्नागप्रमुखा ग्रन्थकारा गुरवः ।

नैयायिकों के विषय में

अथादौ नैयायिकानां यौगापदाभिधानानां लिङ्गादिव्यक्तिरुच्यते । ते च दण्डधराः प्रौढकौपीनपरिधानाः कम्बलिकाप्रावृता जटाधारिणो भस्मोद्धूलनपरा यज्ञोपवीतिनो जलाधारपात्रकराः । नीरसाहाराः प्रायोवनवासिनो दोर्मूले तुम्बकं बिभ्राणाः । कन्दमूलफलाशिनः आतिथ्यकर्मनिरताः सस्त्रीकाः, निस्त्रीकास्तेषूत्तमाः । ते च पञ्चाग्निसाधनपराः करे जटादौ च प्राणलिङ्गधराश्चापि भवन्ति । उत्तमां संयमावस्थां प्राप्तास्तु नग्ना भ्रमन्ति । एते प्रातर्दन्तपादादिशौचं विधाय शिवं ध्यायन्तो भस्मनाङ्गं त्रिस्त्रिः स्पृशन्ति । यजमानो वन्दमानः कृताञ्जलिर्वक्ति 'ॐ नमः शिवाय' इति । गुरुस्तथैव 'शिवाय नम' इति प्रतिवक्ति । ते च संसद्येवं वदन्ति ।

शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीं सेवित्वा योऽपि मुञ्चति ।
दासीदासोऽपि भवति सोऽपि निर्वाणमृच्छति ॥

तेषामीश्वरो देवः सर्वज्ञः सृष्टिसंहारादिकृत् । तस्य चाष्टादशावतारा अमी । नकुली १. शोष्यकौशिकः २. गार्ग्यः ३. मैत्री ४.अकौरुषः ५. ईशानः ६. पारगार्ग्यः ७. कपिलाण्डः ८. मनुष्यकः ९. कुशिकः १०. अत्रिः ११. पिङ्गलः १२. पुष्पकः १३. बृहदार्यः १४. अगस्तिः १५. सन्तानः १६. राशीकरः १७. विद्यागुरुश्च १८. एते तेषां तीर्थेशाः पूजनीयाः । एतेषां पूजाप्रणिधानविधिस्तु तदागमाद्वेदितव्यः । तेषां सर्वतीर्थेषु भरटा एव पूजकाः । देवानां नमस्कारो न सन्मुखैः कार्यः । तेषु ये निर्विकारास्ते स्वमीमांसागतमिदं पद्यं दर्शयन्ति ।

न स्वर्धुनी न फणिनो न कपालदाम
नेन्दोः कला न गिरिजा न जटा न भस्म ।
यत्रान्यदेव च न किञ्चिदुपास्महे तद्-
रूपं पुराणं मुनिशीलितमीश्वरस्य ॥

स एव योगिनां सेव्यो ह्यर्वाचीनस्तु भोगभाक् ।
स ध्यायमानो राज्यादिसुखलुब्धैर्निषेव्यते ॥

उक्तं च तैः स्वयोगशास्त्रे—

वीतरागं स्मरन्योगी वीतरागत्वमश्नुते ।
सरागं ध्यायतस्तस्य सरागत्वं तु निश्चितम् ॥
येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ इति ॥

एतत्सर्वं लिङ्गवेषदेवतादिस्वरूपं वैशेषिकमतेऽप्यवसातव्यं, यतो नैयायिक-वैशेषिकाणां हि मिथः प्रमाणतत्त्वानां संख्याभेदे सत्यप्यन्योन्यं तत्त्वानामन्त-र्भावनेऽल्पीयानेव भेदो जायते। तेनैतेषां प्रायो मततुल्यता उभयेऽप्येते तपस्विनोऽभिधीयन्ते । ते च शैवादिभेदेन चतुर्धा भवन्ति । तदुक्तम् ।

आधारभस्मकौपीनजटायज्ञोपवीतिनः ।
स्वस्वाचारादिभेदेन चतुर्धा स्युस्तपस्विनः ॥
शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा ।
तुर्याः कालमुखा मुख्या भेदा एते तपस्विनाम् ॥

तेषामन्तर्भेदा भरटभक्तालैङ्गिकतापसादयो भवन्ति । भरटादीनां व्रतग्रहणे ब्राह्मणादिवर्णनियमो नास्ति । यस्य तु शिवे भक्तिः स व्रती भरटादिर्भवेत् । परं शास्त्रेषु नैयायिकाः सदा शिवभक्तत्वाच्छैवा इत्युच्यन्ते, वैशेषिकास्तु पाशुपता इति । तेन नैयायिकशासनं शैवमाख्यायते, वैशेषिकदर्शनं च पाशुपतमिति । इदं मया यथाश्रुतं यथा दृष्टं चात्राभिदधे । तत्तद्विशेषस्तु तद्ग्रन्थेभ्यो विज्ञेयः ॥

नैयायिकों के ग्रन्थ

एषां तर्कग्रन्थाः न्यायसूत्र-भाष्य-न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका-तात्पर्यपरि-शुद्धि-न्यायालङ्कारवृत्तयः । क्रमेणाक्षपाद-वात्स्यायनोद्योतकर-वाचस्पति-श्रीउद-यन-श्रीकण्ठाभयतिलकोपाध्यायविरचिताः ५४००० । भासर्वज्ञप्रणीते न्याय-सारेऽष्टादश टीकाः तासु मुख्याः न्यायभूषणाख्या न्यायकलिका जयन्तरचिता न्यायकुसुमाञ्जलितर्कश्च ॥

सांख्य के आचारादि

अथादौ सांख्यमतप्रपन्नानां परिज्ञानाय लिंगादिकं निगद्यते। त्रिदण्डा एकदण्डा वा कौपीनवसना धातुरक्ताम्बराः शिखावन्तो जटिनः क्षुरमुण्डा मृगचर्मासना द्विजगृहाशनाः पञ्चग्रासीपरा वा द्वादशाक्षरजापिनः परिव्राज

कादयः। तद्भक्ता वन्दमाना 'ॐ नमो नारायणाये'ति वदन्ति, ते तु 'नारायणाय नम' इति प्राहुः। तेषां महाभारते बीटेति ख्याता दारवी मुखवस्त्रिका मुखनिःश्वासनिरोधिका भूतानां दयानिमित्तं भवति।

यदाहुस्ते—

घ्राणादितोऽनुयातेन श्वासेनैकेन जन्तवः।
हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिनाम् ॥

ते च जलजीवदयार्थं स्वयं गलनकं धारयन्ति, भक्तानां चोपदिशन्ति।

षट्त्रिंशदङ्गुलायामं विंशत्यङ्गुलविस्तृतम्।
दृढं गलनकं कुर्याद् भूयो जीवान् विशोधयेत् ॥
म्रियन्ते मिष्टतोयेन पूतराः क्षारसंभवाः।
क्षारतो येन तु परे न कुर्यात् संकटं ततः ॥
लूतास्यतन्तुगलिते ये बिन्दौ सन्ति जन्तवः।
सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते नैव मान्ति त्रिविष्टपे ॥

इतिगलनकविचारो मीमांसायाम्। सांख्याः केचिदीश्वरदेवाः, अपरे च निरीश्वराः। ये च निरीश्वरास्तेषां नारायणो देवः। तेषामाचार्या विष्णु-प्रतिष्ठाकारकाश्चैतन्यप्रभृतिशब्दैरभिधीयन्ते। तेषां मतवक्तारः कपिलासुरिपञ्चशिखभार्गवोलूकादयः। ततः सांख्याः कापिलाः इत्यादिनामभिः अभिधीयन्ते। तथा कपिलस्य परमर्षिरितिद्वितीयं नाम, तेन तेषां पारमर्षा इत्यपि नाम ज्ञातव्यम्। वाराणस्यां तेषां प्राचुर्यम्। बहवो मासोपवासिकाः ब्राह्मणाः अर्चिर्मार्गाविरुद्धधूममार्गानुगामिनः सांख्यास्त्वर्चिर्मार्गानुगाः। तत एव ब्राह्मणाः देवप्रियाः यज्ञमार्गानुगाः। सांख्यास्तु हिंसाढ्यवेदविरता अध्यात्मवादिनः। ते च स्वमतस्य महिमानमेवमामनन्ति। तदुक्तं माठरप्रान्ते—

हस पिब लल खाद मोद नित्यं
भुङ्क्ष्व च भोगान् यथाभिकामम्।
यदि विदितं ते कपिलमतं
तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥

शास्त्रान्तरेऽप्युक्तम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
शिखी मुण्डी जटी वाऽपि मुच्यते नात्र संशय ॥

सांख्यनामकरण

संख्यां प्रकृतिप्रभृतितत्त्वपञ्चविंशतिरूपां विदन्त्यधीयते वा सांख्याः। यद्वा तालव्यादिरपि शांख्यध्वनिरस्तीति वृद्धाम्नायः। तत्र शंखनामा कश्चिदाद्यः पुरुषविशेषस्तस्यापत्यं पौत्रादिरिति गर्गादित्वात् यञ्प्रत्यये शांख्यास्तेषामिदं दर्शनं सांख्यं शांख्यं वा।

सांख्य-ग्रन्थ

सांख्यानां तर्कग्रन्थाः षष्टितन्त्रोद्धाररूपं माठरं भाष्यं, सांख्यसप्ततिनामकं, तत्त्वकौमुदी, गौडपादं, आत्रेयतन्त्रं चेत्यादयः।

जैनमत की निर्दूषणता

अत एव जैना जिनमतस्य निर्दूषणतया परीक्षातो निर्भीका एवमुपदिशन्ति। सर्वथा स्वदर्शनपक्षपातं परित्यज्य माध्यस्थ्येनैव युक्तिशतैः सर्वदर्शनानि पुनः पुनर्विचारणीयानि। तेषु च यदेव दर्शनं युक्तियुक्ततयावभासते यत्र च पूर्वापरविरोधगन्धोऽपि नेक्ष्यते, तदेव विशारदैरादरणीयं नापरमिति।

जैनवेषाचारादि

अथादौ जैनमते लिङ्गवेषाचारादि प्रोच्यते। जैना द्विविधाः श्वेताम्बरा दिगम्बराश्च। तत्र श्वेताम्बराणां रजोहरणमुखवस्त्रिकालोचादिर्लिङ्गं चोलपट्टकल्पादिको वेषः। पञ्च समितयस्तिस्रश्च गुप्तयस्तेषामाचारः।

ईर्याभाषैषणादाननिःक्षेपोत्सर्गसंज्ञिकः।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात्॥

इतिवचनात्। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्माकिञ्चन्यवान् क्रोधादिविजयी दान्तेन्द्रियो निर्ग्रन्थो गुरुः। माधुकर्या वृत्त्या नवकोटीविशुद्धस्तेषां नित्यमाहारः संयमनिर्वाहार्थमेव वस्त्रपात्रादिधारणम्। वन्द्यमाना धर्मलाभमाचक्षते।

दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा काष्ठासङ्घमूलसङ्घमाथुरसङ्घ-गोप्यसङ्घ-भेदात्। काष्ठासङ्घे चमरीवालैः पिच्छिका, मूलसङ्घे मायूरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसङ्घे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृता, गोप्या मयूरपिच्छिकाः। आद्यास्त्रयोऽपि सङ्घा वन्द्यमानाः धर्मवृद्धिं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते, गोप्यास्तु

वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं च मन्यते। गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते। सर्वेषां च भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशदन्तराया मलाश्च चतुर्दश वर्जनीयाः। शेषमाचारे गुरौ च देवे च सर्वं श्वेताम्बरैस्तुल्यम्। नास्ति तेषां मिथः शास्त्रेषु तर्केषु परो भेदः।

जैन-ग्रन्थ

श्वेताम्बराणां सम्मतिर्नयचक्रवालः स्याद्वादरत्नाकरो रत्नाकरावतारिका तत्त्वार्थः प्रमाणवार्तिकं प्रमाणमीमांसा न्यायावतारोऽनेकान्तजयपताकाऽनेकान्तप्रवेशो धर्मसंग्रहिणी प्रमेयरत्नकोशः चेत्येवमादयोऽनेके तर्कग्रन्थाः। दिगम्बराणां तु प्रमेयकमलमार्तण्डो न्यायकुमुदचन्द्र आप्तपरीक्षाऽष्टसाहस्री सिद्धान्तसारो न्यायविनिश्चयटीका चेत्यादयः।

वैशेषिकमताचारादि

अस्य लिङ्गवेषाचारदेवादि नैयायिकप्रस्तावे प्रसङ्गेन प्रागेव प्रोचानम्। मुनिविशेषस्य कापोतीं वृत्तिमनुष्ठितवतो रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादायादाय कृताहारस्य आहारनिमित्तात् कणाद इति संज्ञाऽजनि। तस्य कणादस्य मुनेः पुरः शिवेनोलूकरूपेण मतमेतत् प्रकाशितम्। तत औलूक्यं प्रोच्यते। पशुपतिभक्तत्वेन पाशुपतं प्रोच्यते।

वैशेषिक-ग्रन्थ

षट्पदार्थी कणादकृता तद्भाष्यं प्रशस्तकरकृतं तट्टीका कन्दली श्रीधराचार्यीया किरणावली तूदयनसंदब्धा व्योममतिर्व्योमशिवाचार्यविरचिता लीलावतीतर्कः श्रीवत्साचार्यीय आत्रेयतन्त्रं चेत्यादयो वैशेषिकतर्काः।

मीमांसकों में देवपूजा

तथा पूर्वोत्तरमीमांसावादिनः कथमपि देवमनङ्गीकुर्वाणा अपि सर्वेऽपि ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीन् देवान् पूजयन्तो ध्यायन्तो वा दृश्यन्ते।

मीमांसकमताचारादि

अथ मीमांसकमतं जैमिनीयापराह्वयं प्रोच्यते। जैमिनीया वेषेण सांख्या इवैकदण्डास्त्रिदण्डा धातुरक्तवाससो मृगचर्मोपवेशनाः कमण्डलुधरा मुण्ड-

शिरसः संन्यासिप्रभृतयो द्विजाः। तेषां वेद एव गुरुर्न पुनरन्यो वक्ता गुरुः। त एव स्वयं तव संन्यस्तं संन्यस्तमिति भाषन्ते। यज्ञोपवीतं च प्रक्षाल्य त्रिर्जलं पिबन्ति। ते द्विधा एके याज्ञिकादयः पूर्वमीमांसावादिनः, अपरे तूत्तरमीमांसावादिनः। तत्र पूर्वमीमांसावादिनः कुकर्मविवर्जिनो यजनादिषट्कर्मकारिणो ब्रह्मसूत्रिणो गृहस्थाश्रमसंस्थिता शूद्रान्नादिवर्जकाः भवन्ति। ते च द्वेधा भाट्टाः प्राभाकराश्च षट्पञ्चप्रमाणप्ररूपिणः। ये तूत्तरमीमांसावादिनः ते वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतमेव मन्यन्ते। 'सर्वमेतदिदं ब्रह्म' इति भाषन्ते प्रमाणं च यथा तथा वदन्ति। एक एवात्मा सर्वशरीरेषूपलभ्यत इति जल्पन्ति। एक एव हि भूतात्मा भूते व्यवस्थितः।

'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्'।

इति वचनात्।

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।'

इति वचनाच्च। आत्मन्येव लयं मुक्तिमाचक्षते न त्वपरां कामपि मुक्तिं मन्यन्ते। ते च द्विजा एव भगवन्नामधेयाश्चतुर्धाभिधीयन्ते कुटीचर-बहूदक-हंस-परमहंस-भेदात्। तत्र त्रिदण्डी सशिखो ब्रह्मसूत्री गृहत्यागी यजमान-परिग्रही सकृत्पुत्रगृहेऽश्नन् कुट्यां निवसन् कुटीचर उच्यते। कुटीचरतुल्यवेषो विप्रगेहनैराश्यभिक्षाशनो विष्णुजापपरो नदीनीरस्नायी बहूदकः कथ्यते। ब्रह्मसूत्रशिखाभ्यां रहितः कषायाम्बरदण्डधारी ग्रामे चैकरात्रं नगरे च त्रिरात्रं निवसन् विधूमेषु विगताग्निषु विप्रगेहेषु भिक्षां भुञ्जानः तपःशोषितविग्रहो देशेषु भ्रमन् हंसः समुच्यते। हंस एवोत्पन्नज्ञानश्चातुर्वर्ण्यगेहभोजी स्वेच्छया दण्डधर ईशानीं दिशं गच्छन् शक्तिहीनतायाम् अनशनग्राही वेदान्तैकध्यायी परमहंसः समाख्यायते। एतेषु चतुर्षु परः परोऽधिकः। एते च चत्वारोऽपि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनैकव्यसनिनः शब्दार्थयोर्निरासायानेका युक्तीः स्फोरयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वे यथा व्यवतिष्ठन्ते तथा खण्डनतर्कादभियुक्तैरवसेयम्। नात्र तन्मतं वक्ष्यते। इह तु सामान्येन शास्त्रकारः पूर्वमीमांसावादिमतमेव बिभाणिषुरेवमाह।

आस्तिक का अर्थ

एवमित्थमास्तिकवादानां जीव-परलोक-पुण्यपापाद्यास्तित्ववादिनां बौद्धनैयायिक-सांख्य-जैन-वैशेषिक-जैमिनीयानां संक्षेपेण कीर्तनं वक्तव्याभिधानं संक्षेपकीर्तनं कृतम्।

चार्वाकों के स्वरूप आदि

प्रथमं नास्तिकस्वरूपमुच्यते। कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिनो ब्राह्मणाद्यन्त्यजाताश्च केचन नास्तिका भवन्ति। ते च जीव-पुण्य-पापादिकं न मन्यन्ते। चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते। केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पञ्चमं भूतमभिमन्यमानाः पञ्चभूतात्मकं जगदिति निगदन्ति। तन्मते भूतेभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुत्पद्यते। जलबुद्बुदवज्जीवाः। चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः इति। ते च मद्यमांसे भुञ्जते मात्राद्यगम्यागमनमपि कुर्वते वर्षे वर्षे कस्मिन्नपि दिवसे सर्वे संभूय यथानामनिर्गमं स्त्रीभिरभिरमन्ते। धर्मं कामादपरं न मन्वते।